भूमिका।

परम सौभाग्य से अवन्तिका में १०८ मुनिराज ज्ञानसागरजी महाराज का चार्तुमास हुवा। इस अवसर में अनेक श्रावकों ने दान पूजा, सामायिक, स्वाध्याय, व्रतादि शुभक्रियाओं द्वारा पुण्यार्जन किया। संसार के स्वरूप का वास्तविक दिग्दर्शन श्रावकों को सरलता से हो इसी पुनीत उद्देश्य से मुनिराज ने द्वादश भावना, समाधिमरण व ध्यानविचार नामक संग्रह ग्रंथों का निर्माण किया। तीनों ही ग्रंथ अपने अपने विषय के नाते संक्षप विस्तार नीतियुक्त उत्तम व प्रामाणिक हैं प्रतिक्षण संसारिक विषय वासना-ग्रसित मानव हृदय के लिय उक्त ग्रन्थ सत्य मार्ग प्रदर्शक व आत्म कल्याण साधक हैं। प्रत्यक प्राणी को इनकी स्वाध्याय करना चाहिये। संस्कृत श्लोकों को साधारण मानव नहीं समझ सकेगा तथा इस प्रकार ग्रन्थ निर्माण का उद्देश्य सार्थक न हो सकेगा अतएव पूज्य मुनि महाराज ने मेरे को भाषा टीका करने की आज्ञा प्रदान की। यथामति शीघ्रता में जो कुछ भी मेरे द्वारा जो भाषा टीका कीगई है उसमें जो भी त्रुटि रहगई हो विज्ञ पाठक क्षमादान पूर्वक संशोधन करने का कष्ट करेंगे ऐसी पूर्ण आशा है। तीनों ग्रन्थों में से ध्यान विचार ग्रन्थ पाठकों के हाथ में हैं, तथा समाधिमरण व द्वादशभावना शीघ्रही प्रकाशित

होरहे हैं। इसके प्रकाशन कार्य में श्री नन्दलालजी साहब काशलीवाल बी. ए. एल. एल. बी. ने काफी परिश्रम किया है वे धन्यवाद के पात्र हैं। इसी प्रकार जिन महानुभावों ने इसके प्रकाशन में आर्थिक सहयोग दिया है वे सबही धन्यवाद के पात्र हैं। उनके नाम नीचे लिखे मुताबिक हैं:—

उज्जैन,
ता. ८-१-४६.

निवेदक—
अनन्तराज वैद्य
न्यायतीर्थ आयुर्वेदाचार्य.

१. श्री. नगजीरामजी धन्नालालजी	५१)	२. श्री. रखबदासजी सेठी	५१)
३. ,, भंवरलालजी सोधा	३६)	४. ,, घासीलालजी बागडिया	३५)
५. ,, अनंतराजजी वैद्य	३१)	६. सेठ लक्ष्मीचन्दजी पाटनी	२५)
७. सेठ मोतीलालजी टोंग्या	२५)	८. ,, मुकालालजी चौधरी	२१)
९. ,, सुगनचन्दजी पिड़ावाला	१५)	१०. सेठ सोभागमलजी	११)
११. बाबू चान्दमलजी साह	११)	१२. बाबू धूलीलालजी पाटनवाला	१०)
१३. ,, चांदमलजी पांड्या	५)	१४. सेठ सागरमलजी गंगवाल	५)
१५. सेठ सुगनचन्दजी गंगवाल	५)	१६. ,, घीसीलालजी गंगवाल	५)
१७. शांतीलालजी पांड्या	५)	१८. ,, फूलचन्दजी काशलीवाल	५)
१९. बाबू रामभरोसेदासजी	५)	२०. सेठ शंकरलालजी सेठी	५)
२१. मुनीम तेजकरणजी बागड्या	५)	२२. खेरची	५)
	१९६)		१०९)

। अथ ध्यान विचार ।

भव क्लेश विनाशाय पिव ज्ञान सुधारसम् ।
कुरु जन्माब्धिमत्येतुं ध्यानपोतावलम्बनम् ॥१॥

अर्थ- संसार के दुःख जन्म जरा मृत्यु इनके विनाश के लिये ज्ञानामृत का पान करना चाहिये तथा संसाररूपी सागर से तिरने के लिये ध्यानरूपी जहाज का आश्रय ग्रहण करना चाहिये। जैसे सागर से पार उतरने के लिये जहाज की जरूरत है उसी प्रकार संसार से पार उतरने के लिये ध्यान की जरूरत है।

मोहं त्यज भज स्वास्थ्यं मुञ्चसङ्गान् स्थिरीभव।
यतस्ते ध्यान सामग्री सविकल्पा निगद्यते ॥२॥

अर्थ- ध्यान की सिद्धि के लिये मोह का संसार व परिवार के माया मोह का त्याग करना चाहिये तथा अपने आत्मस्वभाव का विचार करना चाहिये

परिग्रह को छोड़कर स्थिरचित्त होना चाहिये। ये सब सविकल्प ध्यान के साधन हैं।

उत्तितीर्षुर्महापङ्काज्जन्मसंज्ञाद्दुरुत्तरात्।
यदि किंन तदाधत्से धैर्यध्याने निरन्तरम् ॥३॥

अर्थ- यदि दुर्गम संसार कीचड़ से पार उतरना चाहते हो तो फिर क्यों नहीं लगातार ध्यान में धीरता को प्राप्त करते। अर्थात् सदैव धैर्यपूर्वक ध्यान के महात्म्य से संसाररूपी कीचड़ को मनुष्य पार कर लेता है।

चित्तेतवविवेक श्रीर्यद्यशङ्कास्थिरी भवेत्।
कीर्त्यतेते तदा ध्यान लक्षणंस्वांत शुद्धिदम् ॥४॥

अर्थ- यदि तेरे हृदय में निश्शङ्क विवेकरूपी लक्ष्मी अर्थात् निश्शंसय ज्ञान स्थिर है तो वही हृदय शुद्धि प्रदान करनेवाला ध्यान कहा जाता है। तथा शुद्ध सत्य निश्चल ज्ञान भी ध्यान का ही रूपान्तर है। कारण कि उससे भी चित्त शुद्ध होता है।

इयं मोह महानिद्रा जगत्त्रय विसर्पिणी।
यदिक्षीणातदाक्षिप्रंपिवध्यान सुधारसम् ॥५॥

अर्थ- यह महामोहमयी निद्रा तीनों लोक में फैली हुई है वह जिस समय कमजोर हो जावे उसी समय ध्यानामृत के रस का पान करना चाहिये। जिससे मोह का नाश हो जावे।

बाह्यान्तर्भूतानिश्शेषसङ्गमूर्च्छाक्षयंगता।
यदि तत्वोपदेशेनध्याने चे तस्तदार्पय ॥६॥

अर्थ- तत्वज्ञान के श्रवण से वहिरंग व अन्त रंग सम्पूर्ण परिग्रह ममत्व भाव क्षय हो जाते हैं तो मनुष्य को ध्यान में चित्त देना चाहिये। मूर्च्छा ममत्व माया मोह के दूर होने पर ही ध्यान में चित्त लग सकता है।

प्रमाद विषय ग्राहदन्त यन्त्राद्यादिच्युतः।
त्वंतदाक्लेशसंघात घातकं ध्यान माश्रय ॥७॥

अर्थ- प्रमाद व विषय रूपी मगर के दंतों से यदि छूट गये हो तो सम्पूर्ण क्लेश समूह को नाश करने वाले ध्यान का आश्रय लेवो। प्रमाद व इंद्रिय विषय ध्यान को नष्ट करने वाले है इनसे छूटने पर ही मनुष्य ध्यान कर सकता है।

इमेऽनन्त भ्रमसारप्रसैरक परायणाः ।
यदि रागादयः क्षीणास्तदध्यातुंविचेष्ट्यताम् ॥८॥

अर्थ- ये अनन्त संसार के असार चक्र में घुमाने में प्रवीण रागादिदोष यदि क्षीण हो जाते हैं तो अवश्य ध्यान की चेष्टा करना चाहिये । रागादि संसार के कारण है तथा ध्यान में बाधक है इनके कम होने पर ध्यान सिद्धि हो सकती है ।

यदि संवेग निर्वेद विवेकैर्वासितेमनः ।
तदाधीर स्थिरीभूय स्वस्मिन् स्वान्तं निरुपय ॥९॥

अर्थ- संवेग संसार के दुःख से भय तथा इसी कारण से निर्वेद अर्थात् वैराग्य तथा इसी प्रकार का शुद्धज्ञान इनमें चित्त लगा हुवा है तो धैर्य पूर्वक स्थिरता के साथ अपने आत्मा के स्वरूप में चित्त को लगाना चाहिये । अर्थात् ध्यान करना चाहिये । संवेग निर्वेद व विवेक से पूर्ण मन ध्यान का साधक है ।

विरज्यकामभोगेषु विमुच्यवपुषिस्पृहाम् ।
निर्ममत्वं यदि प्राप्तस्तदाध्याताऽसिनान्यथा ॥१०॥

अर्थ- विषयाभिलाषा व इन्द्रिय सुखों से विरक्त होकर शरीर के ममत्व को छोड़कर निर्ममत्व को प्राप्त करने पर ही प्राणी ध्यानी हो सकता है अयन्था नहीं।

विस्तरेणैव तुष्यंतिकेऽप्यहो विस्तरप्रियाः।
संक्षेपरुचयश्चान्ये विचित्राश्चित्तवृत्तयः ॥११॥

अर्थ- कितने ही प्राणी विस्तार ही है प्रिय जिनके विस्तार से संतुष्ट होते हैं तथा कितने ही संक्षेप रुचिवाले संक्षेप को पसन्द करते है मनुष्यों के विभिन्न चित्त वृत्तियां ही इसका कारण है।

संक्षेप रुचि भिः सूत्रात्तात्रिरुप्यात्म निश्चयात्।
त्रिधैवाभिमतं कैश्चिद्यतोजीवाशयस्त्रिधा ॥१२॥

अर्थ- संक्षेप रुचि प्राणियों के लिये शास्त्र के आधार से ध्यान का लक्षण कह रहे हैं कि जीवों के आशय तीन तरह के हैं शुभोपयोग अशुभोपयोग व शुद्धोपयोग इस तरह तीन तरह के उपयोग के कारण तीन तरह का ही ध्यान है।

तत्र पुण्याशयः पूर्वस्तद्विपक्षोऽशुभाशयः ।
शुद्धोपयोगसंज्ञोयः स तृतीयः प्रकीर्तितः ॥१३॥

अर्थ- शुभोपयोग वाले पुण्याशय इनसे विपरीत पापाशय वाले अशुभाशय तथा तीसरे शुद्धोपयोग वाले इस प्रकार तीन प्रकार के प्राणी है ।

पुण्याशयवशाज्जातं शुद्धलेश्यावलम्बनात् ।
चिन्तनाद्वस्तुतत्वस्य प्रशस्तंध्यानमुच्यते ॥१४॥

अर्थ- पुण्य कर्म के संयोग से उत्तम विचारों से उत्पन्न पीत पद्म शुक्ल लेश्या के आधार से वस्तु-तत्व का चिन्तवन करना प्रशस्त ध्यान है शुभोप-योग है ।

पापाशयवशान्मोहान्मिथ्यात्वाद्वस्तु विभ्रमात् ।
कषायाज्जायतेऽजस्रमसद्ध्यानं शरीरिणाम्॥ १५॥

अर्थ- पाप के आशय वश से मोह से मिथ्यात्व से वस्तु के स्वभाव को विपरीत समझने लगता है तथा इसी कारण से रागद्वेष क्रोधमानादिकषाय होते हैं इन सब कारणों से मनुष्य सदा बुरा विचार किया

करते हैं यही अशुभोपयोग है ॥ १५ ॥

क्षीणेरागादिसन्ताने प्रसन्नेचान्तरात्मनि ।
यःस्वरूपोपलम्भः स्यात्सशुद्धाख्यःप्रकीर्तितः॥१६॥

अर्थ- रागादिपरंपरा के क्षीण होने से अन्तरात्मा प्रसन्न होता है चित्त में निर्मल भाव पैदा होते है इस प्रकार रागरहित प्रसन्न मन से अपने आत्मस्वरूप की प्राप्ति शुद्धोपयोग है ॥ १६ ॥

शुभ ध्यान फलोद्भूता श्रियं त्रिदश संभवाम् ।
निर्विशन्तितनराःनाकेक्रमाद्यान्ति परं पदम् ॥१७॥

अर्थ- शुभध्यान के फलस्वरूप मनुष्य स्वर्ग में देवपद प्राप्त कर वहां की लक्ष्मी का उपभोगकर क्रम से उत्कृष्ट मोक्ष पदको प्राप्त करते हैं ॥ १७ ॥

दुर्ध्यानं दुर्गतेर्बीजं जायते कर्मदेहिनाम् ।
क्षीयतेयन्न कष्टेन महताऽपि कथंचन ॥१८॥

अर्थ- पापध्यान दुर्ध्यान है प्राणियों के दुर्गति नरकनिगोद तिर्यंचादि का कारण कर्म बन्ध करता है और यह दुष्टकर्म महान् कष्ट व प्रयत्न से भी कैसे ही नष्ट नहीं होते ॥

निश्शेषक्लेश निर्मुक्तं स्वभावजमनश्वरम् ।
फलं शुद्धोपयोगस्य ज्ञान राज्यं शरीरिणाम् ॥१९॥

अर्थ- सम्पूर्ण दुःख जहां छूटे गये हैं तथा स्वभाव से उत्पन्न आत्मसुख रूप अविनाशी ऐसा केवल ज्ञानपद अनन्त ज्ञान व अनन्त सुख रूप मोक्ष पद शुद्धोपयोग वाले प्राणियों को प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

इति संक्षेपतो ध्यान लक्षणंसमुदाहृतम् ।
बन्ध मोक्षफलोपेतं संक्षेपरूचिरंजकम् ॥२०॥

अर्थ- इस प्रकार संक्षेप रूचिवाले प्राणियों के चित्त को प्रसन्न करने वाला यह बन्ध व मोक्ष के फल सहित ध्यान का लक्षण संक्षेप में कहा गया है, शुभोपयोग पुण्य बंध का कारण तथा अशुभोपयोग पाप बंध का कारण तथा शुद्धोपयोग मोक्ष का कारण है इस प्रकार संक्षेप में ध्यान लक्षण कहा है।

यस्यप्रज्ञास्फुरत्युच्चैरनेकान्तेऽयुतभ्रमा ।
ध्यानसिद्धि र्विनिश्चेयातस्यसाध्वीमहात्मनः ॥२१॥

अर्थ- जिस महापुरुष की भ्रम रहित अनेकान्त

के समझने में विशद बुद्धि उत्पन्न होती है उसी महात्मा पुरुष के उत्तम ध्यान की सिद्धि होती है।

ध्यानतन्त्रे निषिध्यन्ते नैते मिथ्यादृशःपरं ।
मुनयोऽपि जिनेशाज्ञा प्रत्यनीकाश्चलाशयाः ॥२२॥

अर्थ- जो मिथ्या दृष्टि हैं तत्वार्थ में जिनको श्रद्धान नहीं हैं वे तथा वे मुनि जो जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा के विरुद्ध चलते हैं तथा चलायमान चित्त वाले ये सब ध्यान शास्त्र में निषेध किये जाते हैं ये सब ध्यान करने योग्य नहीं।

योग्यतानयतित्वेऽपियेषांध्यातुमिहक्षणम् ।
अन्विष्यलिङ्गमेतेषां सूत्रसिद्धंनिगद्यते ॥२३॥

अर्थ- जो यति होगये है साधु होगये है किन्तु जो एक क्षण भी ध्यान करने की योग्यता वाले नहीं हैं उन सब के शास्त्र प्रसिद्ध लक्षण नीचे कहे जाते हैं।

यत्कर्मणिन तद्वाचिवाचियत्तन्नचेतसि ।
यतेर्यस्यस किंध्यान पदवीमधिरोहति ॥२४॥

अर्थ- जिस साधु की शारीरिक क्रिया कुछ हो, व वचन से कुछ और कहता हो तथा वचन से जो कहता हो वैसा मन से नहीं विचारता हो अर्थात मन में कुछ और हो ऐसा साधु ध्यान के अयोग्य है। जैसा कार्य हो वैसा ही वचन हो व मन में भी वैसा ही विचार हो ऐसा सरल योग वाला ही ध्यान के योग्य है। वक्रयोग वाला ध्यान के अयोग्य है।

सङ्गेनापि महत्वंये मन्यन्तेस्वस्यलाघवं।
परेषां संग वैकल्यात्तेस्वबुध्द्यैववञ्चिताः ॥२५॥

परिग्रह से जो अपनी महत्ता व लघुता समझते हैं तथा सदा दूसरों के परिग्रह को देखकर विकलता करते हों ऐसे साधु अपनी बुद्धि के द्वारा ही ठगे जाते हैं। अपरिग्रह ही ध्यान का कारण है। परिग्रह व ममत्वा ध्यान नाश के कारण है।

सत्संयमधुरांधृत्वा तुच्छशीलैर्मदोद्धतैः।
त्यक्तायैः साच्युतःस्थैर्यैर्ध्यातुमीशंकतन्मनः॥२६॥

अर्थ- जो साधु संयम को धारण करके भी

अपने मिथ्याभिमान से उद्धत तथा स्थिरता रहित चलायमान है चित्त जिनका शील की तुच्छता करके सहित जो संयम की धुरा को छोड़ देते हैं उनका मन ध्यान के योग्य नहीं। संयम से ही ध्यान की सिद्धि होती है। संयम की कमी से ध्यान की सिद्धि नहीं होती !

कीर्तिपूजाभिमानार्तैर्लोक यात्रानुरंजितैः ।
बोधचक्षुर्विलुप्तैर्यैस्तेषां ध्याने नयोग्यता ॥२७॥

अर्थ- जो संसार में अपनी प्रतिष्ठा पूजा व अभिमान में मग्न रहते हैं मनुष्यों के चित्त को रंजायमान करना ही जिनका लक्ष्य हो तथा जिनके वास्तविक ज्ञान रूपी नेत्र नष्ट होगये हैं वे ध्यान के योग्य नहीं। अपनी मान प्रतिष्ठा चाहने वालों से ध्यान नहीं हो सक्ता।

अंतःकरणशुद्धयर्थं मिथ्यात्वविषमुद्धृतम् ।
निष्ठ्यूतैर्यैर्न निःशेषं न तैस्तत्वंप्रमीयते ॥२८॥

अर्थ- मन की शुद्धि के लिये जिन्होंने उग्र

मिथ्यात्व का जहर सम्पूर्ण रूप से अपनी आत्मा से नहीं निकाल दिया है वे ठीक तरह से तत्वज्ञान नहीं कर सकते। मिथ्यात्व को सम्यक् प्रकार से दूर करने पर ही सम्यग्ज्ञान होता है।

दुःषमत्वादिकः कालः कार्यसिद्धेर्नसाधकम्।
इत्युक्त्वास्वस्य चान्येषांकैश्चिद्ध्यानंनिषिध्यते।२९

अर्थ- यह दुःखमा नामक पंचमकाल है इसमें मोक्ष नहीं होता संहनन की दुर्बलता से इसमें उत्तम ध्यान होता ही नहीं ऐसा कोई कोई कहा करते है वे गलत कहते है। वास्तव में आत्म-शुद्धि करने से अवश्य ध्यान की सिद्धि होती है।

मार्जारिरसितप्रायं येषांवृत्तं त्रपाकरम्।
तेषांस्वप्नेऽपिसद्ध्यानसिद्धि र्नैवोपजायते ॥३०॥

अर्थ- जो बिल्ली के स्वभाव के समान लज्जा जनक चरित वाले हैं जैसे बिल्ली किसी मतलब से हिंसा के निमित्त एक लक्ष्य होकर एकाग्र चिंता निरोध ध्यान करती है उसी प्रकार केवल संसार को दिखाने के लिये अंतरंग में हिंसादि सहित बाह्य

रूप से ध्यान साधना करते हैं उनके स्वप्न में भी उत्तम ध्यान की सिद्धि नहीं हो सक्ती।

अनिरुद्धाक्षसन्ताना अजितोग्रपरीषहाः।
अत्यक्त चित्तचापल्या प्रस्खलन्त्यात्मनिश्चये ॥३१॥

अर्थ- जिन्होंने अपने पांचों इन्द्रियों को वश में नहीं की है जो उग्र भयंकर २२ परीषह को सहन करने की शक्ति नहीं रखते हों जिन्होंने चित्त की चंचलता पर अपना नियंत्रण नहीं किया हो वे आत्म-श्रद्धान में आत्म.ध्यान में अवश्य गिर जाते हैं। आत्म-ध्यान नहीं कर सकते।

यतित्वं जीवनोपायं कुर्वन्तः किं न लज्जिताः।
मातुः पण्यमिवालम्ब्य यथा केचिद्गतघृणाः ॥३२॥

अर्थ- अपने जीवन को निर्वाह करने के लिये जिन्होंने यति का भेष धारण किया है वे क्या लज्जित नहीं होते ? अवश्य लज्जित होना चाहिये। जैसे कोई पुरुष अपनी माता से वेश्या का व्यापार करावे व घृणा रहित हो वह पुरुष निंदनीय है उसी प्रकार जीवन काटने के लिये यति का बाना

धारण करना निन्दनीय है ।

निस्त्रपाःकर्म कुर्वन्तियतित्वेऽप्यतिनिन्दितम् ।
ततोविराध्य सन्मार्गं विशन्ति नरकोदरे ॥३३॥

अर्थ- निर्लज्ज पुरुष मुनि अवस्था में भी अतिनिंदनीय कार्य करते हैं वे सन्मार्ग का नाश करते हैं व इसके परिणाम स्वरूप मर करके नरक में जाते हैं ।

वश्याकर्षण विद्वेषं मारणोच्चाटनं तथा ।
जलानलविषस्तम्भोरसकर्म रसायनम् ॥३४॥
पुरक्षोभेन्द्रजालं च वलस्तम्भो जयाजयौ ।
विद्याच्छेदस्तथा वेधंज्योतिर्ज्ञानं चिकित्सितं ॥३५॥
यक्षिणी मंत्रपातालसिद्धयः कालवञ्चना ।
पादुकाञ्जन निस्त्रिंशभूतभोगीन्द्रसाधनं ॥३६॥
इत्यादिविक्रिया कर्मरञ्जितैर्दुष्टचेष्टितैः ।
आत्मानमपिन ज्ञातुंनष्टंलोकद्वयच्युतैः ॥३७॥

अर्थ- जो साधु वशीकरण मंत्र आकर्षण मंत्र विद्वेष विद्या मारण व उच्चाटन मंत्र की सिद्धि करते

है जल को अग्नि को व विष की शक्ति को रोकने की विद्या, रस अर्थात् पारदादि के कार्य, व रसायन चांदी सुवर्ण बनाना, नगर को क्षोभित करने वाले कार्य, इन्द्रजाल विद्या, बल का स्तम्भित कर देना, दूसरों की जय पराजय करने की विद्या, दूसरों की विद्या शक्ति का नष्ट करना, बाण आदि से वेध करना, ज्योतिषज्ञान, वैद्यकज्ञान, यक्षिणी मंत्र पाताल आदि, काल अर्थात् मृत्यु को दूर करने वाली विद्याओं की सिद्धि करना जो वास्तव में मृत्यु को नहीं मिटा सकती, चरणपादुका की सिद्धि जो पानी में आग में चल सके, अंजन की सिद्धि, भूत-काल, व दबी छिपी वस्तुओं को देख सके, तलवार, भूतप्रेत, धरणेन्द्र, सर्पराज आदि का साधन ऐसे मंत्रादि साधन रूप निन्दित कार्य में जिनका सदैव मन लगा रहता है नित्य दूषित कार्य में जिनका चित्त लगा रहता है वे साधु आत्मा का ज्ञान भी नहीं कर सकते व उनका इहलोक व परलोक दोनों नष्ट होते हैं।

इस प्रकार ध्यान के अयोग्य प्राणी के वर्णन के पश्चात् ध्यान के योग्य कौन हैं बतलाते हैं—

अथनिर्णीततत्त्वार्थाधन्याः संविग्नमानसाः ।
कीर्त्यन्तेयामिनो जन्मसंभृतसुखनिस्पृहाः ॥३८॥

जिन्होंने तत्वार्थ का सत्य निर्णय कर लिया है भवभ्रमण से जिनका मन भयभीत है इहलोक परलोक के सांसारिक सुखों से जिनकी वाञ्छा नहीं है ऐसे साधु धन्य हैं ध्यान के योग्य हैं ।

भवभ्रमणनिर्विण्णाः भावशुद्धिं समाश्रिताः ।
संति केचिच्चभूपृष्ठे योगिनः पुण्यचेष्टिताः ॥३९॥

अर्थ- संसार के चक्कर से जिनको वैराग्य होगया हैं अतः शुद्ध अंतरंग का आश्रय प्राप्त करते हैं, पुण्य कार्य मे जिनकी सदा चेष्टा बनी रहती है ऐसे साधु संसार में कुछ ही हैं ।

विरज्य कामभोगेषु विमुच्यवपुषिस्पृहाम् ।
यस्यचित्तंस्थिरीभूतं स-हि-ध्याताप्रशस्यते ॥४०॥

अर्थ- जिनका चित्त विषय वासनाओं से विरक्त

होगया है शरीर में जिनका ममत्व नहीं रहा है जिनका चित्त चलायमान नहीं है ऐसे साधु प्रशंसनीय ध्यानी होते हैं।

विन्ध्याद्रिर्नगरं गुहावसतिका शय्याशिलापार्वती।
दीपाश्चन्द्रकराः मृगाः सहचराः मैत्रीकुलीनाङ्गना
विज्ञानं सलिलंतपः सदशनंयेषां प्रशान्तात्मनां।
धन्यास्ते भवपङ्कनिर्गमपथप्रोद्देशकाः सन्तुनः॥४१॥

अर्थ- जिन महान शांतिमय आत्माओं के विन्ध्याचल पर्वत ही नगर है उस पर्वत की गुफा ही उनके रहने का मकान है पर्वत की शिला परही जो शयन करते हैं, चन्द्रमा की श्वेत किरणें ही जिनके दीपक का कार्य करती है, जंगल के हिरण जिनके मित्र है उनके शांत परिणामों से हिरण भी उनसे भयभीत नहीं होते, पृथ्वी का आंगन ही जिनको प्यारा है, सदैव ज्ञानरूपी जल से ही अपनी प्यास बुझाते हैं तथा तपोरूपी जिनका उत्तम आहार है आचार्य कहते हैं कि ऐसे साधु पुरुष हमारे लिये

संसार-रूपी कीचड़ से निकालने में सहायक होवें वे धन्य हैं ऐसे साधु ही ध्यानी होते हैं तथा स्वयं संसार से तिरते हैं व औरों को तारते हैं।

ज्ञानादेवेष्टसिद्धिस्स्यात्ततोऽन्यः शास्त्रविस्तरः।
मुक्तेरुक्तमतो बीजंविज्ञानं ज्ञानवादिभिः ॥४२॥

अर्थ- ज्ञानसे ही ध्यान व मोक्ष इष्ट की सिद्धि होती है इससे अन्य कल्पना शास्त्रों का विस्तार मात्र है अतः ज्ञानवादी मोक्ष का कारण ज्ञान को ही मानते हैं। यह भी एक मत है।

कैश्चिच्च कीर्तिता मुक्तिर्दर्शनादेव केवलम्।
वादिनामपि सर्वेषा मपाकृत्य नयान्तरम् ॥४३॥

अर्थ- कितने ही वादी केवल दर्शन ही मोक्ष का कारण है यह मानते हैं। विश्वास करो इससेही मोक्ष मिलेगा। वे वादी ज्ञान व चारित्र से मुक्ति होती है ऐसे सभी वादियों के मत का निषेध करते हैं तथा केवल विश्वास करने मात्र से मुक्ति होती है यह मानते हैं।

अथान्यैर्वृत्तमेवैकं मुक्त्यङ्गं परिकीर्तितम् ।
अपास्य दर्शनज्ञाने तत्कार्यं विफलश्रमे ॥४४॥

अर्थ- तथा अन्य सिद्धान्त वाले केवल चारित्र को ही मुक्ति का कारण मानते हैं चारित्र के बाद ज्ञान व दर्शन का परिश्रम व्यर्थ है ।

विज्ञानादि त्रिवर्गेऽस्मिन्द्वेद्वेइष्टे तथापरैः ।
स्वसिद्धान्तावलेपेन जन्मसन्तति सातने ॥४५॥

अर्थ- कितने ही मतवाले दर्शन ज्ञान व चरित्र में से दो को मुक्ति कारण मानते हैं कोई ज्ञान-दर्शन को कोई दर्शन चारित्र को तथा कितने ही ज्ञान चारित्र को संसार भ्रमण का नाश करने वाला मानते हैं ।

एकैकं चात्रिभिर्नष्टं द्वेद्वेनष्टे तथापरैः ।
त्रयंन रुच्यतेऽन्यस्यसतेदुर्दृशः स्मृताः ॥४६॥

अर्थ- एक मत वाले कहते हैं कि यह तो झगड़ा है जो केवल एक को ही मोक्ष कारण मानते हैं उनका मत तो जो तीनों को एक साथ मोक्ष का

कारण मानते हैं उनके सिद्धान्त से उनका सिद्धान्त नष्ट होजाता है तथा जो दो को कारण मानते हैं उनका सिद्धान्त उनके विरोधी दूसरे प्रकार से खण्डित हो जाता है। और तीनों ही कारण है यह उनको पसन्द नहीं आता उनका तो कहना है कि मोक्ष का कोई औरही कारण है यह सात मत है ये सम्पूर्ण सातों मत ही मिथ्या है। वास्तव में सम्यग्दर्शन ज्ञान व चारित्र की पूर्णता ही मोक्ष का कारण है। सम्यग्दर्शन ज्ञान व चारित्र पृथक् पृथक् मोक्ष का मार्ग नहीं है तीनों मिलकर ही मोक्ष मार्ग है यह बतला रहे हैं।

ज्ञानहीने क्रिया पुंसिपरं नारभते फलम्।
तरोश्छाये व किंलभ्या फलश्रीर्निष्टदाष्टिभिः॥४७॥

अर्थ- ज्ञान करके रहित चारित्र से उत्कृष्ट फल नहीं मिलता है। जैसे अंधे पुरुष को वृक्ष के नीचे की छाया ही मिल सक्ती है उसके फल प्राप्त नहीं हो सक्ते।

ज्ञानंपङ्गौ क्रियाचान्धेनिःश्रद्धे नार्थकृद्द्वयम् ।
ततोज्ञानं क्रिया श्रद्धात्रयं तत्पद कारणम् ॥४८॥

अर्थ- ज्ञान पङ्गु में होता है किन्तु पांवों के न होने से क्रिया नहीं होती अतः वह कुछ नहीं कर सकता। अन्ध पुरुष में क्रिया होती है किन्तु ज्ञान न होने के कारण वह क्रिया व्यर्थ है। जिसमें ज्ञान व चारित्र हो किन्तु श्रद्धान नहीं है उसके ज्ञान व चारित्र कार्यकारी नहीं होसक्ते। अतः ज्ञान चारित्र व श्रद्धान तीनों ही मोक्ष के कारण है। इसी का उदाहरण बतलाते हैं=

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनः क्रिया ।
धावन्नप्यन्धकोनष्टः पश्यन्नपिपङ्गुकः ॥४९॥

अर्थ- एक जंगल में आग लग गई वहां पर एक अंधा पुरुष है वह रास्ते को न देख सकने के कारण भागने की क्रिया करता हुवा भी ज्ञान बिना अग्नि में नष्ट हो जाता है। यदि पङ्गु पुरुष उसी वन में है तो वह ज्ञानवान है देख रहा है कि इस दशा में अग्नि है किन्तु पांवों के नष्ट होने से चलने की

क्रिया नहीं कर सक्ता अतः ज्ञानी क्रियाहीन नष्ट होता है और क्रियावान् ज्ञान-रहित होने से नष्ट हो जाता है। यदि दोनों अंधे व पङ्गु मिलजाय व अंधे की पीठ पर पङ्गु बैठ जावे और अंधा चले व पङ्गु रास्ता बतलाता रहे तो वे दोनों ज्ञान व चारित्र के संयोग होजाने से बच निकलेंगे। अतः सम्यग्दर्शन ज्ञान व चारित्र का योगही मोक्ष मार्ग है।

ध्याता ध्यानं तथा ध्येयं फलं चेति चतुष्टयम्।
इति सूत्रं समासेन सविकल्पं निगद्यते ॥५०॥

अर्थ- ध्याता कर्ता व ध्यान कर्म तथा ध्येय जो पदार्थ ध्यान किया जाता है तथा उसका फल ये ध्यान शास्त्र के विकल्प है और जहां ये कल्पनाएं होती है वहीं तक सविकल्प ध्यान कहा जाता है।

मुमुक्षुर्जन्म निर्विण्णः शान्तचित्तोवशी स्थिरः।
जिताक्षः संवृतो धीरोध्याता शास्त्रे प्रशस्यते ॥५१॥

अर्थ- मोक्ष प्राप्ति की जिनको अभिलाषा है संसार से विरक्त है चित्त जिनका शान्तचित्तयुक्त इन्द्रिय

व मनको वश में करने वाले, स्थिरचित्त, इन्द्रियों को जिन्होंने जीत लिया है, तथा उत्तम यम संयमव्रत सहित, कर्म के संवर में तत्पर, धीर निश्चल, शास्त्रमें ध्याता के ये उत्तम गुण है।

गृहावस्था में ध्यान नहीं हो सक्ता यह बतलाते है—

न प्रमाद जयंकर्तुं धीधनै रपि पार्यते।
महाव्यसन संकीर्णे गृहवासेऽतिनिन्दिते ॥५२॥

अर्थ- महान् कष्ट व आपत्तियों द्वारा व्याप्त महानिन्दनीय गृहस्थावस्था में बुद्धिमान मनुष्य के द्वारा भी प्रमाद नहीं जीता जासकता। प्रमाद के जीते बिना ध्यान सिद्धि नहीं हो सकती।

शक्यते न वशीकर्तुं गृहिभिश्चपलं मनः।
अताश्चित्त प्रशान्त्यर्थं सद्भिस्त्यक्ता गृहेस्थितिः॥५३॥

अर्थ- मन महान् चंचल है गृहवास में यह वश में नहीं आसक्ता अतः उत्तम पुरुषों ने अपने चित्त को शान्त व वश में करने के लिये घर छोड़ने का मार्ग स्वीकार किया है।

प्रतिक्षणं द्वन्द्वशतार्तचेतसां
नृणां दुराशाग्रह पीड़ितात्मनाम् ।
नितम्बिनी लोचन चौर संकटे
गृहाश्रमे स्वात्महितं न सिद्धयति ॥५४॥

अर्थ- प्रत्येक समय में सैकड़ों झंझटों में चित्त फंसा रहता है, नाना प्रकार की आशा व कल्पनाएं आत्मा को पीड़ित करती है, ऐसे पुरुषों के गृहस्थाश्रम में कैसा है गृहस्थाश्रम जहां पर सुन्दर स्त्रियों के नेत्र चौर का कार्य करते हैं गृहस्थ के चित्त को चुरा लेते हैं अतः जिस प्रकार जिस गृहस्थ के चोरी होने से वह चित्त ध्यान व आत्महित में नहीं लगा सकता ऐसे संकट पूर्ण गृहस्थाश्रम में आत्मध्यान सिद्ध नहीं हो सकता ।

निरन्तरार्त्तानलदाह दुर्गमे
कुवासनाध्वान्त विलुप्त लोचने ।
अनेक चिन्ताज्वर जिह्मितात्मनां
नृणांगृहेनात्माहितं प्रसिध्द्यति ॥५५॥

अर्थ- सदैव आर्त-ध्यान की अग्नि के द्वारा जो जलरहे हैं, दुर्गम कुवासना के अंधकार से जो अंधे होगये हैं, तथा अनेक प्रकार की चिन्ता के ज्वर से जिनकी आत्मा कुण्ठित होगई है ऐसे पुरुषों के गृहवास में आत्महित सिद्ध नहीं होता है।

प्रचण्डपवनैः प्रायश्चाल्यन्ते यत्रभूभृतः ।
तत्राङ्गनादिभिः स्वान्तंनिसर्गतरलं नाकिम् ॥५६॥

अर्थ- जहां तेज हवा के झंझावात से कठोर पहाड़ चलायमान होजाते हैं वहां स्त्रियों के सहवास से स्वाभाविक कोमल चित्त रहता है उसके चलायमान में आश्चर्य क्या है।

खपुष्प मथवाशृंगं खरस्यापि प्रतीयते ।
न पुनर्देशकालेऽपिध्यानसिद्धिः गृहाश्रमे ॥५७॥

अर्थ- आकाश का पुष्प हो सकता है तथा गधे के सींग हो सकते हैं किन्तु किसी भी देश व काल में गृहवास में ध्यान सिद्धि नहीं होती। आचार्य कहते हैं कि असंभव वस्तुएं आकाश पुष्प व गधे के सींग

हो सकते हैं जो कि वास्तव में होते नहीं है जब येही नहीं होते तब गृहावस्था में ध्यान भी नहीं हो सकता ।

अज्ञानपूर्विकाचेष्टा यतेर्यस्यात्रभूतले ।
सबध्नात्यात्मनात्मानं कुर्वन्नपितपश्चिरं ॥५८॥

अर्थ- संसार में जो साधु अज्ञान पूर्वक क्रियायें करता है वह बहुत समय से तप करता हुवा भी अपनी आत्मा को अपने कार्य से ही बांधता है ।

ज्ञानपूर्व मनुष्ठानं निःशेषंयस्ययोगिनः ।
नतस्यबन्ध मायातिकर्मकस्मिन्नपिक्षणे ॥५९॥

अर्थ- जिस साधु के सम्पूर्ण अनुष्ठान ज्ञान-पूर्वक होते हैं उसके किसी भी समय कर्मों का बन्ध नहीं होता है ।

यत्रबालश्चरत्यस्मिन् पथितत्रैव पण्डितः ।
बालःस्वमपिबध्नाति मुच्यते तत्वविद्ध्रुवम् ॥६०॥

अर्थ- जिस रास्ते से मूर्ख पुरुष चलता है उसी रास्ते से पंडित चलता है मूर्ख बंध करता है

तथा ज्ञानी बन्ध से छूटता है। अज्ञान पूर्वक क्रिया से बन्ध व ज्ञान-पूर्वक क्रिया से मोक्ष होता है।

यज्जन्मकोटिभिः पापंजयत्यज्ञः तपोबलात्।
ताद्विज्ञानी क्षणार्द्धेनदहत्यतुल विक्रमः ॥६१॥

अर्थ- मूर्ख करोड़ों जन्म तक तप करे व पापों को नष्ट करे उतने ही पापों को ज्ञानी-पुरुष अत्यंत पराक्रम के साथ आधे क्षण में नष्ट कर डालता है। यहां ज्ञानी व अज्ञानी में महान् अन्तर है।

असत्यमपि तत्सत्यं यत्सत्वाशंसकंवचः।
सावद्यंयच्च पुष्णाति तत्सत्यमपिनिन्दितम् ॥६२॥

अर्थ- जो प्राणों की रक्षा करने वाला हो किन्तु असत्य हो वह वचन भी सत्य है तथा जो प्राणों का नाश करने वाला सावद्य का पोषक सत्य वचन भी असत्य है निन्द्य है।

पृष्टैरपिन वक्तव्यंनश्रोतव्यंकथंचन।
वचःशङ्काकुलं पापंदोषाढ्यं चाभिसूयकम् ॥६३॥

अर्थ- जिस वचन में शंका हो पाप रूप हो

दोषपूर्ण हो ईर्षा द्वेष पूर्ण हो ऐसे वचनों को पूंछनेपर भी नहीं कहना चाहिये तथा कोई कहे तो सुनना नहीं चाहिये

सतांविज्ञात तत्वानां सत्यशीलावलम्बिनाम् ।
चरण स्पर्श मात्रेणविशुद्धयति धरातलम् ॥६४॥

अर्थ- सज्जन पुरुष, तत्व के पूर्ण ज्ञाता, सत्य व शील के धारक, महापुरुषों के चरण स्पर्शमात्र से पृथ्वी शुद्ध होजाती है ।

सर्व लोकप्रिये तथ्ये प्रसन्ने ललिताक्षरे ।
वाक्ये सत्यपिकिंब्रूते निकृष्टं परुषंवचः ॥६५॥

अर्थ- सम्पूर्ण जनों को प्यारा तथा जिसको कहने वाला व सुनने वाला दोनों ही प्रसन्न रहते हैं सुन्दर अक्षर वाला ऐसे वचन के होते हुए निकृष्ट कठोर मिथ्या वचन क्यों कहना चाहिये । सदासत्य मित प्रिय वचन कहना चाहिये ।

नृजन्मन्यपि यः सत्यप्रतिज्ञा प्रच्युतोऽधमः ।
सकेन कर्मणापश्चाज्जन्मपङ्कात्तरिष्यति ॥६६॥

अर्थ- अत्यन्त पुण्य कार्य करने के बाद बड़ी कठिनता से अचानक मनुष्य पर्याय प्राप्त होती है

उसको भी प्राप्त करके नीच व मूर्ख पुरुष यदि सत्य वचन नहीं बोलता तो फिर कोन से कर्म के उदय से बाद में संसार सागर तिर सकेगा। मनुष्य पर्याय उसमें सत्यशील का पालन ही संसार से छुड़ाने वाला है फिर पर्याय प्राप्त करके भी झूठ बोला तो फिर वह संसार में ही रुलेगा।

नहिसत्यप्रतिज्ञस्य पुण्यमावलंबिनः।
प्रत्यूहकरणे शक्ताआपि दैत्योरगादयः ॥६७॥

अर्थ- दैत्य राक्षस सर्पादि दुष्ट प्राणी भी सत्य वक्ता व पुण्यशाली जीव को नहीं सता सकते वे उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते।

यस्तपस्वी जटीमुण्डो नग्नो वा चीवरावृतः।
सोऽप्य सत्यं यदि ब्रूतेनिन्द्यः स्यादन्त्यजादपि॥६८॥

अर्थ- जो तप करते हैं जटाधारी है मुण्डन किये हुये हैं अथवा सर्व वस्त्र त्यागी नग्न साधु है तथा लंगोटी धारण किये हुए हैं ऐसे पुरुष भी यदि असत्य भाषण करते हैं तो वे चाण्डाल से भी अधिक निन्दा के योग्य हैं।

एकतः सकलं पापं असत्योत्थंततोऽन्यतः ।
साम्य मेववदन्त्यार्यास्तुलायां धृतयोस्तयोः ॥६९॥

अर्थ-आर्य पुरुष कहते हैं कि असत्य वचन से उत्पन्न पाप को एक तरफ इकट्ठा करके तराजू के एक पलड़े में रखा जावे तथा बाकी के समस्त पापों को इकट्ठे करके एक तरफ के तराजू के पलड़े में रखकर तोल किया जावे तो दोनों बराबर निकलेंगे। सब पापों से असत्य बोलना ज्यादा पाप है।

सत्य वचन के वर्णन के बाद ब्रह्मचर्य का वर्णन करते हैं-

एक मेव व्रतं श्लाध्यं ब्रह्मचर्यं जगत्रये ।
यद्विशुद्धिं समापन्नाः पूज्यन्ते पूजितैरपि ॥७०॥

अर्थ- तीनों जगत में सर्वोत्तम ब्रह्मचर्य ही प्रशंसनीय व्रत है जिसने शुद्ध ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर लिया उनकी पूजा पूज्य पुरुष भी करते हैं।

ब्रह्मव्रत मिदंजीयाच्चरणस्यैव जीवितम् ।
स्युःसन्तोऽपिगुणाःयेनविनाक्लेशाय देहिनाम्॥७१॥

अर्थ- यह ब्रह्मचर्य व्रत जयवन्त हो जिसने

इसका पालन किया है उसमें अनेक गुण आजाते हैं तथा प्राणियों के क्लेशों को दूर करने वाला हो जाता है।

विरज्य कामभोगेषु ये ब्रह्मसमुपासते।
एतेदश महादोषास्ते स्त्याज्या भावशुद्धये ॥७२॥

अर्थ- जो पुरुष काम व इन्द्रियों के भोगों से विरक्त रहकर ब्रह्मचर्य की उपासना करते हैं उनके द्वारा ब्रह्मचर्य में बाधक दश महादोष त्यागने योग्य हैं। इससे भाव शुद्धि होकर पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन होता है।

निर्दयत्व मनार्यत्वं मूर्खत्वमति चापलम्।
वञ्चकत्वं कुशीलत्वं स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः ॥७३॥

अर्थ- निर्दयीपना, म्लेच्छपना, मूर्खता, अति चंचलता, ठगविद्या, व्यभिचार ये दोष स्त्रियों में स्वभाव से होते हैं।

विचरन्ति कुशीलेषुलङ्घयन्ति कुलक्रमम्।
नस्मरन्ति गुरुं मित्रं पतिं पुत्रञ्च योषितः ॥७४॥

अर्थ- व्यभिचार के निमित्त अपनी कुल परंपरा को छोड़कर इधर उधर घूमती है व अपने बड़ेजन, मित्र, पति व पुत्र को भी स्त्रियां भूल जाती है अपमानित करती है।

सतीत्वेन महत्वेन वृत्तेन विनयेनच।
विवेकेन स्त्रियः काश्चिद्भूषयन्ति धरातलम् ॥७५॥

अर्थ- सभी स्त्रियां ऊपरि लिखित रूप से नहीं होती अपवाद रूप में इसी पृथ्वी में कुछ स्त्रियां अपने सतीत्व से अपनी महानता से उदारता आदि उत्तम कार्य से, उत्तम चरित्र से, विनय से, व विशेष ज्ञान से सुशोभित होती हैं प्रसिद्ध होती हैं।

ननुसन्ति जीवलोकेकाश्चिच्छमशील संयमोपेताः॥
निजवंशतिलकभूताः श्रुतसत्य समन्वितानार्यः।७६

अर्थ- निश्चय से इस संसार में कुछ स्त्रियां ऐसी होती है जो अपने त्याग से संयम से श्रेष्ठ होती हैं शास्त्र व सत्य में परिपूर्ण होती है और अपने वंश के तिलकभूत अर्थात् शिरोमणि होती हैं।

नवनीत निभंपुंसां मनः सद्योविलीयते ।
वनिता वह्निसंतप्तं सतामपिन संशयः ॥७७॥

अर्थ- उत्तम पुरुषों का भी मन मक्खन के तुल्य होता है जो स्त्री रूपी अग्नि का सहवास प्राप्त करके शीघ्र ही पिघल जाता है इसमें शंका नहीं ।

स्थिरीकृत्य मनस्तत्वे तावत्तिष्ठति संयमी ।
यावन्नि ताम्बिनी भोगिभृकुटिं न समीक्षते ॥७८॥

अर्थ- अपने ध्यान में तत्व विचार में मनको स्थिरीभूत करके संयमी पुरुष वहीं तक टिक सकता है जहां तक कि इन स्त्री रूपी सर्पिणी के तेज नेत्र नहीं देख पाता । जिस समय स्त्री के नेत्रों को इसने देखा तबही स्थिर रहना कठिन होजाता है ।

श्रुतं सत्यंतपः शीलं विज्ञानं वृत्तमुत्तमम् ।
इन्धनी कुरुतेमूढः प्रविश्य वनितानले ॥७९॥

अर्थ-इस स्त्री रूपी अग्नि में प्रवेश करके मूर्ख अपने संचित शास्त्र-ज्ञान, सत्य, तपश्चर्या, बल

ब्रह्मश्चर्य, उत्तम बुद्धि व चारित्र सबको भस्म कर देता है।

अपवाद महापंके निमज्जन्ति न संशयः ।
यमिनोऽपिजगद्वन्द्य वृत्ता रामास्पदंश्रिता ॥८०॥

अर्थ- जिन महापुरुषों का चरित्र संसार में पूजनीय है जो संयमी है तथापि यदि वे स्त्रियों के समीप आश्रय लेते हैं तो महा निन्दा रूपी कीचड़ में अवश्य फस जायेंगे। अतः स्त्रियों का सथ अवश्य त्याग ने योग्य है।

ब्रह्मचर्यच्युतः सद्यो महानप्य व मन्यते ।
सर्वैरपिजनैः लोके विध्यात इव पावकः ॥८१॥

अर्थ- महान संयमी रहा हो किन्तु यदि जरा भी ब्रह्मचर्य से डिग गया तो अग्नि के समान संपूर्ण मनुष्यों के द्वारा लोक में अपमानित किया जाता है।

वास्तव मे वृद्ध पुरुष कौन होते हैं यह बतलाते हैं।

स्वतत्व निकषोदभूतं विवेका लोकवर्द्धितम् ।
येषां बोधमयं चक्षुस्ते वृद्धा विदुषां मताः ॥८२॥

अर्थ- अपने तत्वज्ञान की कसौटी से उत्पन्न

विवेक के प्रकाश से जो बढ़े हुए हैं जिनके ज्ञानचक्षु खुले हैं वे विद्वानों ने वृद्ध कहे हैं।

तपः श्रुतधृतिध्यानविवेकयमसंयमैः।
ये वृद्धास्तेऽत्र शस्यन्ते नपुनः पलिताङ्कुरैः ॥८३॥

अर्थ- केवल सफेद बाल आजाने से ही वृद्ध नहीं होते किन्तु तप में शास्त्र में धैर्य में ध्यान में ज्ञान में त्याग व संयम में जो बड़े हैं वेही प्रशंसनीय वृद्ध हैं।

प्रत्यासत्तिं समायातैर्विषयैः स्वान्तरंजकैः।
न धैर्यं स्खलितं येषांतेवृद्धाः विबुधैर्मता :॥८४॥

अर्थ- अपने दिल को लुभाने वाले इन्द्रिय विषय भोगों को समीप में आने पर जो अपने धैर्य व दिल को स्खलित नहीं करते च्युत नहीं होते वे वास्तव में विद्वानों द्वारा वृद्ध माने गये हैं।

नहि स्वप्नेऽपि संयाता येषांसद्वृत्त वाच्यता।
यौवनेऽपिमतावृद्धास्ते धन्याः शीलशालिभिः॥८५॥

अर्थ- जिनकी स्वप्न में भी उत्तम चरित्र की

निन्दा नहीं हुई वे जवानी में भी शील संचय से वृद्ध हैं व वे धन्य हैं।

वार्द्धक्येन वपुर्धत्ते शैथिल्यं च यथायथा।
तथा तथा मनुष्याणां विषयाशा निवर्तते ॥८६॥

अर्थ- जैसे जैसे शरीर वृद्धावस्था से शिथिल होता जाता है वैसे वैसे ही मनुष्यों की विषय वासना शक्ति कम होजाती है। और इस प्रकार कम होना त्याग व तप नहीं कहलायेगा मन तो उस समय भी उनका चंचल रहता है।

हीनाचरणसंभ्रांतो वृद्धोऽपितरुणायते।
तरुणोऽपि सतां धत्तेश्रियं सत्संगवासितः ॥८७॥

अर्थ- हीन चरित्र से युक्त वृद्ध पुरुष भी जवान गिना जाता है तथा उत्तम सत्संग सहित तरुण पुरुष भी सत्पुरुषों में शोभा प्राप्त करता है।

अन्ध एव वराकोऽसौ न सतां यस्यभारती।
श्रुतिरन्ध्रं समासाद्य प्रस्फुरत्यधिकंहृदि ॥८८॥

अर्थ- वह विचारा अन्धा ही है सत्पुरुषों की

वाणी जिसके कर्ण छिद्रों में प्रवेश करके उसके हृदय में स्फूर्ति पैदा नहीं करती। सत् पुरुषों की वाणी श्रवण करके जिनके हृदय में चेतना पैदा होती है वे ही पुरुष ज्ञानवान हैं।

मदान्धैः कामुकैः पापैर्वञ्चकै र्मार्गविच्युतैः।
स्तब्धलुब्धाधमैः सार्द्धसंगो लोकद्वयान्तकः॥८९॥

अर्थ- नीति का वर्णन कर रहे हैं कि जो पुरुष अभिमान में अंधे हैं तथा कामलोलुप हैं पाप जीवन व्यतीत करते हैं, ठग, सन्मार्ग से गिरे हुए, आलसी, लोभी व नीच हैं ऐसे पुरुषों की संगति इस लोक में धन कीर्ति आदि का नाश करने वाली व परलोक में नरक तिर्यंचादि के दुःखों को प्रदान करने वाली है अतः इहलोक व परलोक दोनों को बिगाड़ने वाली है।

आगे ध्यान सिद्धि में बाधक परिग्रह का वर्णन करते हैं—

दशग्रन्था मता बाह्या अन्तरंगाश्चतुर्दश।
तन्मुक्त्वा भव निःसंगो भावशुद्ध्याभृशं मुने॥९०॥

अर्थ- बाहिरंग दश परिग्रह व अंतरंग चौदह परिग्रह इस प्रकार अंतरंग व बहिरंग परिग्रह को त्यागकर निस्संग होना चाहिये इससे मुनि के ध्यान की पूर्ण सिद्धि होती है।

वास्तुक्षेत्रं धनं धान्यं द्विपदाश्चचतुष्पदाः।
शयनासनयानंच कुप्यंभान्ड ममीदश ॥९१॥

अर्थ- मकान, खेत, धन, धान्य, स्त्री पुत्र, दासी दासादि द्विपद, गाय भैंस घोड़ा आदि चतुष्पद शयन (सोने) के साधन बैठने के उपकरण व सवारी आदि, धातु के बर्तन थाली आदि, ये दश प्रकार के बाह्य परिग्रह है।

मिथ्यात्व वेदरागाः दोषाहास्यादयोऽपिषट्चैव।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यंतराःग्रन्थाः ॥९२॥

अर्थ- मिथ्यात्व, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुसंकवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, ग्लानि, क्रोध, मान, माया, लोभ, ये चौदह अंतरंग परिग्रह है।

नाणवोऽपिगुणा लोकेदोषा शैलेन्द्र सन्निभाः ।
भवन्त्यत्र न संदेहः संगमासाद्य देहिनाम् ॥९३॥

अर्थ- प्राणियों के परिग्रह द्वारा पहाड़ के समान दोष ही उत्पन्न होते हैं व गुण अणुमात्र भी नहीं प्राप्त होता । परिग्रह में दोषही दोष है परिग्रह त्याग में गुण है परिग्रह त्याग के बिना गुण प्राप्ति असंभव है ।

सर्व संगपरित्यागः कीर्त्यते श्रीजिनागमे ।
यस्तमे वान्यथाब्रूतेसहीनः स्वान्यघातकः ॥९४॥

अर्थ- जिनाज्ञा सम्पूर्ण परिग्रह को त्याग देने की है तबही पूर्ण साधु व ध्यानी बन सकता है । जो इसके विपरीत कहता है वह अपना व दूसरे का नाश करने वाला मिथ्यावादी है ।

अपि सूर्यस्त्यजेद्धाम स्थिरत्वं वा सुराचलः ।
न पुनः संगसकीर्णो मुनिः स्यात्संवृतेन्द्रियः ॥९५॥

अर्थ- आचार्य कह रहे हैं कि सूर्य अपने तेज को छोड़दे व मेरु पर्वत अपनी स्थिरता को छोड़दे

किन्तु परिग्रह से जकड़ा मुनि कभी भी इन्द्रिय विजयी नहीं होसक्ता असंभव कार्य संभव होसक्ते हैं किन्तु परिग्रह त्याग के विना मुनि ध्यानी व संयमी हो ही नहीं सकता। यद्यपि यह स्पष्ट है कि सूर्य अपने तेज को मेरुपर्वत अपनी स्थिरता को कभी भी नहीं छोड़ेगा किन्तु आचार्य वस्तु स्थिति को ठीक तरह से ज्ञान कराने के लिये उक्त उदाहरण देरहे हैं। जब येही अपने स्वभाव को नहीं छोडते तो बिना विभाव परिग्रह को छोडे स्वभाव प्राप्त ही कैसे हो सकता है।

बाह्यानपिच यः सङ्गान्परित्यक्तुमनीश्वरः।
सक्लीवः कर्मणां सैन्यं कथमग्रे हनिष्यति ॥९६॥

अर्थ- जो पुरुष बाह्य परिग्रह का ही त्याग करने में असमर्थ है तो आचार्य कहते हैं कि वह नपुंसक पुरुष कैसे आगे चलकर कर्म की सेना को नष्ट कर सकेगा। जो चीज बाहर से दूर की जासकती है वह ही दूर नहीं कीगई तो अंतरंग कर्म कैसे दूर होंगे।

विजनेजन संकीर्णे सुस्थिते दुस्थितेऽपिवा ।
सर्वत्रा प्रतिबद्धः स्यात्संयमीसंगवर्जितः ॥९७॥

अर्थ- जहां मनुष्य नहीं पहुंचते ऐसे जंगल में व जहां अधिक मनुष्य होते हैं ऐसे नगर में सुकाल व अकाल में सम्पूर्ण परिस्थितियों में परिग्रह त्यागी संयमी साधु रुक नहीं सकते उनका कार्य किसी के पीछे रुक नहीं सकता बिना किसी के आश्रय के अपने ध्यान संयम का पालन कर सकते हैं परिग्रह में पराश्रयता रहती ही है ।

यावद्यावच्छरीराशा धनाशा वाविसर्पति ।
तावत्तावन्मनुष्याणां मोहग्रन्थिर्दृढी भवेत् ॥९८॥

अर्थ- मनुष्य के शरीर में व धन में मोह जहां तक रहता है वहीं तक मोह रूपी गठान मजबूत ही होती जाती है । शरीर व धन से ममत्व छूटे बिना मोह नहीं दूर होता ।

ध्यान साधन के अन्य उपाय बतला रहे हैं:—

सिद्धक्षेत्राणि सिद्धानि जिनबिम्बानिवन्दितुम् ।
गुर्वाचार्य तपो वृद्धान्सेवितुंव्रजतोऽथवा ॥९९॥

दिवा सूर्य करैः स्पष्टं मार्गं लोकातिवाहितम् ।
दयार्द्रस्याङ्गि रक्षार्थं शनैः संश्रयतो मुनेः ॥१००॥
प्रागेवालोक्य यत्नेन युगमात्राहितेऽक्षिणः ।
प्रमाद रहित स्यास्य समितीर्या प्रकीर्तिता ॥१०१॥

अर्थ- सिद्ध क्षेत्रों की वन्दना के लिये सिद्ध प्रतिमा व अर्हंत प्रतिमा के वन्दना के लिये दीक्षा-गुरु विद्यागुरु आदि गुरुजनों की आचार्य श्री की अथवा तप में वृद्ध पुरुषों की सेवा करने के लिये गमन करने वाला साधु दिन में ही सूर्य के किरणों द्वारा स्पष्ट प्रकाश होजाने पर जिस मार्ग में अनेकों मनुष्य आये और गये हों ऐसे चालू रास्ते पर दया पूर्ण हृदय होता हुवा प्राणियों की रक्षा के लिये धीरे धीरे गमन करे । यत्न पूर्वक आगे चार हाथ जमीन को देखकर प्रमाद रहित होकर गमन करे ऐसे साधु के ईर्या समिति होती है ।

सुप्तेष्वक्षेषु जागर्ति पश्यत्यात्मानमात्मनि ।
वीतविश्वविकल्पोऽसौ सः स्वदर्शी बुधैर्मतः ॥१०२॥

अर्थ- इन्द्रियां जहां सुप्त हो जाती हैं उनसे कोई कार्य न करते हुए अपने आत्म-ज्ञान द्वारा अपनी आत्मा का निरीक्षण करता है सम्पूर्ण सांसारिक विकल्प बुद्धि जहां नष्ट होजाती है उसी को विद्वानों ने स्वदर्शी आत्मदर्शी कहा है।

यानिशा सर्वभूतेषुतस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सानिशापश्यतो मुनेः॥१०३॥

अर्थ- सर्व प्राणियों के लिये जहां रात्रि है वहां पर संयमी पुरुष जागृत रहता है तथा जहां पर प्राणी जागते है वहां पर देखते हुए मुनि के भी रात्रि है। प्राणी आत्म-ध्यान में सोते हुए से रात्रि के अंधकार के समान हैं वहां पर संयमी जागता है देखता है आत्म-ध्यान करता है। जिन इन्द्रिय विषयों में प्राणी जागता रहता है वहां पर साधु के उस तरफ से रात्रि के अन्धकार के समान है अर्थात इन्द्रिय विषयों का विचार नहीं करते। यही इसका भाव है।

विहाय सर्व संकल्पान् रागद्वेषावलम्बितान् ।
स्वाधीनं कुरुते चेतः समत्वेसु प्रतिष्ठितम् ॥१०४॥

अर्थ- सम्पूर्ण रागद्वेष के आधारभूत विकल्पों को विचारों को छोडकर अपने चित्त को आत्मा के विचार में तल्लीन करना समदर्शी होना है यही समभाव है ।

सिद्धान्त सूत्र विन्यासेश्चत्येरयतोऽथवा ।
भवत्य विकलानाम मनोगुप्ति मनीषिणः ॥१०५॥

अर्थ- ऊपर के श्लोकों में जो सम्पूर्ण बाह्य विकल्पों को छोडकर आत्मदर्शी होना बताया है वह भी मनोगुप्ति है जिनसे इतनी नहीं सिद्ध होती वे सिद्धान्त सूत्रों का मनन करते है विचारते हैं उसी में निरन्तर मनको लगाते हैं उनके भी मनोगुप्ति होती है ।

साधु संवृत वाग्वृत्ते मौनारूढस्यवा मुनेः ।
संज्ञादि परिहारेण वाग्गुप्तिः स्यान्महा मुनेः ॥१०६॥

अर्थ- अपनी वाणी को जिन्होंने सर्वथा रोक कर मौन पूर्वक आत्म-ध्यान में लीन रहते हैं इशारे आदि का भी जो व्यवहार नहीं करते ऐसे महामुनि के वाग्गुप्ति होती है।

स्थिरीकृत शरीरस्य पर्यङ्कसंस्थितस्यवा।
परीषह प्रपातेऽपिकायगुप्तिर्मता मुनेः ॥१०७॥

अर्थ-पद्मासन से व अन्य किसी तरह अपने शरीर को स्थिर रखते है तनिक भी हलन चलन नहीं होने देते। भयंकर परीषह होने पर जरा भी शरीर को चलायमान नहीं करते उन मुनिराज के कायगुप्ति होती हैं।

परीषह आने पर क्या विचारना चाहिये यह बतलाते हैं-

हत्वास्व पुण्यसन्तानं मद्धोषं योनिकृन्तति।
तस्मै यदिह रुष्यामि मदन्यःकोऽधमस्तदा ॥१०८॥

अर्थ- भला मनुष्य अपनी पुण्य परंपरा को नष्ट करके भी मेरे दोषों को नष्ट कर रहा है कितना परोपकार कर रहा है फिर भी यदि मैं उसको रुष्ट

करूं तो मेरे समान उपकारी के उपकार को न मानने वाला कौनसा अधम होगा। जो कुछ भी उपसर्ग साधु पर करता है वह सब से पूर्व अपने लिये पाप कर्म का बंध करता है। तथा साधु के तो सत्ता में रहे कर्म निमित पाकर निर्जरित होजाते हैं व शान्ति से उपसर्ग सह लेने पर नये कर्मों का बंध नहीं होता है अतः उपसर्ग करने वाला अपना अपकार करके दूसरों का उपकार ही करता है अतः उसको किसी भी तरह से रुष्ट नहीं करना चाहिये व शान्ति से उपसर्ग सहन कर ध्यान में चित्त लगाना चाहिये।

संभवन्ति महाविघ्नाइह निःश्रेय सार्थिनाम्।
तेचेत् किलसमायाता समत्वं संश्रयाम्यतः ॥१०९॥

अर्थ- कल्याण के इच्छुक प्राणी के मार्ग में महान् विघ्न आते है और यदि वे सन्मुख ही आगये हैं तो शान्ति भाव से सहन करना चाहिये इसके शुद्ध निश्चय से निःश्रेयस की प्राप्ती होगी ही।

प्राङ्मयायत्कृतं कर्म तन्मये वोपभुज्यते ।
मन्ये निमित्तमात्रोऽन्यः सुख दुःखोद्यतोजनः॥११०।

अर्थ- मैंने जो पूर्व में अशुभ कर्म किये हैं वेही तो मेरे द्वारा भोगे जावेंगे व उन्हें भोगना ही होगा ये परीषह करने वाले तो निमित्त मात्र हैं। अपने सुख व दुःख का कारण तो स्वयं के किये शुभाशुभ कर्म ही हैं।

सहस्व प्राक्तना सातफलं स्वस्थेन चेतसा ।
निष्प्रतीकारमालोक्य भविष्य दुःख शङ्कितः॥१११।

अर्थ- अपने पूर्व के असाता वेदनीय के ये फल हैं इन्हें स्वस्थ शांत चित्त से सहन करना चाहिये। इनका सहन करने के अलावा और कोई उपाय नहीं है। यदि शान्ति से सहन कर लिये तो आगे दुःख न मिलेगा व अशान्ति की तो नवीन कर्म बंधेंगे व आगे इससे भी अधिक दुःख भोगना पड़ेगा।

मान का निषेध करते हैं—

मानग्रंथिर्मनस्युच्चैर्या वदास्तेदृढस्तदा ।
तावद्विवेक माणिक्यं प्राप्तमप्य व सर्पति ॥११२॥

अर्थ- जब मनुष्य के चित्त में मजबूत मान की गठान लग जाती है उस समय उसको प्राप्त हुवा ज्ञानरूपी माणिक्य रत्न भी उससे दूर हट जाता है। मानी पुरुष के पास ज्ञान नहीं ठहरता अभिमान में अविवेक ही के कार्य होते हैं।

ज्ञानरत्न मपाकृत्य गृह्णात्य ज्ञानपन्नगम् ।
गुरू नपिजनो मानी विमानयति गर्वतः ॥११३॥

अर्थ- ज्ञानरूपी रत्न को अभिमानी पुरुष खो देता है तथा अज्ञान-रूपी सर्प को ग्रहण कर लेता है। गर्व में बड़े जनों का भी अविनय कर देता है।

मान मालम्ब्य मूढात्मा विधत्ते कर्म निन्दितम् ।
कलङ्क यतिचाशेष चरणं चन्द्र निर्मलम् ॥११४॥

अर्थ- मूर्ख प्राणी मान के वशीभूत होकर निन्द्य कर्म भी कर डालता है। जैसे कुछ हिस्सा

सम्पूर्ण चन्द्र मण्डल को कलङ्कित कर देता है।

गुणरिक्ते न किंतेन मानेनार्थः प्रसिद्ध्यति।
तन्मन्ये मानिनां मानंयलोकद्वय शुद्धिदम्॥११५॥

अर्थ- मान है वह गुण रहित है कारण कि उससे कुछ भी अर्थ सिद्ध नहीं होता। आचार्य कहते हैं कि मैं तो जब मानूं जब मान इह व परलोक को सुधारने वाला हो किन्तु मान से इहलोक में भी अपयश मिलता है तथा परलोक भी बिगडता है अतः निरर्थक है।

विषयेषु यथा चित्तंजन्तोर्मग्न मनाकुलम्।
तथा यद्यात्मनस्तत्वेसद्यः कोनशिवीभवेत्॥११६॥

अर्थ- जिस प्रकार प्राणी का चित्त विषयों मे निराकुलता के साथ लीन होजाता है उसी तरह यदि आत्म ध्यान में लीन होता रहें तो ऐसा कौन प्राणी है जो मोक्ष में न जावे। किन्तु विषयों में चित्त लग जाता है आत्म-ध्यान में नहीं लगता।

जगद्धन चातुर्य विषयाणां न केवलम्।
नरान्नरक पाताले ने तुमप्यति कौशलम॥११७॥

अर्थ- विषयभोग केवल संसार को ठगने में ही चतुर हो ऐसा नहीं किन्तु ये विषय सुख तो मनुष्य को नरक व पातालों में लेजाने में भी कुशल है। विषयों से ठगा भी जाता है व नरक भी मिलता है।

विषस्य कालकूटस्य विषयाख्यस्य चान्तरम्।
वदन्ति ज्ञात तत्वार्था मेरु सर्षपयोरिव ॥११८॥

अर्थ- कालकूट विष में व विषय में तत्वार्थ के ज्ञाता पुरुष मेरु व सरसों के समान अन्तर बतलाते हैं। कालकूट विष अच्छा किन्तु विषय महा बुरा है। विष भक्षण से प्राणी एकही बार मरता है किन्तु विषयों से तो अनन्त बार मरता है।

अयत्नेनापि जायन्ते तस्यैता दिव्यसिद्धयः।
विषयैर्नमनोयस्यमनागपि कलङ्कितम् ॥११९॥

अर्थ- जिस महा पुरुष का चित्त कभी भी विषय वासनाओं से कलङ्कित नहीं हुवा है उसको बिना प्रयत्न के भी अनेक चमत्कारी सिद्धियां प्राप्त हो जाती है।

क्रमानो नाम संसारे जन्तु व्रजविडम्बके ।
यत्र प्राणी नृपोभूत्वा विष्ठामध्ये कृमिर्भवेत् ॥१२०॥

अर्थ- जीव जन्तुओं कर व्याप्त इस संसार में मान रहही नहीं सकता देखो आज जो जीव राजा की पर्याय में है वह ही आगे अशुभ कर्मोदय से मरकर विष्ठा के मध्य में कीडा पैदा होता है ।

कूठ द्रव्यमिवासारं स्वप्नराज्यमिवाफलम् ।
अनुष्ठानं मनुष्याणां मन्ये मायावलम्बिनाम् ॥१२१॥

अर्थ- जैसे सवथा कूटस्थ द्रव्य से कोई सार प्राप्त नहीं होसकता स्वप्नावस्था में मिले राज्य से कोई फल नहीं मिल सकता उसी प्रकार मायाचारी मनुष्यों का किया हुवा अनुष्ठान सार रहित व निष्फल जाता है ।

लोकद्वयहितं केचित्तपोभिः कर्त्तुमुद्यतः ।
निकृत्या वर्तमानास्ते हन्तहीनान लज्जिताः ॥१२२॥

अर्थ- जो प्राणी इस लोक में ऐश्वर्य सम्पदादि व परलोक का भी सुख तप के द्वारा चाहते है ।

वे जैसे फेंक करके घुमाये हुये के समान वहीं के वहीं आजाते हैं उनके तप का कोई फल नहीं निकलता। खेद है कि वे व्यर्थ में नष्ट होते हुए भी लज्जित नहीं होते। कर्म को नष्ट करने के लिये तपादि का साधन है वह निष्काम साधना से ही सम्भव है।

दृग्बोधनयनः सोऽयमज्ञानतिमिराहतः।
जानन्नपिन जानाति पश्यन्नपिन पश्यति ॥१२३॥

अर्थ- जो तपादि द्वारा इस लोक व परलोक का सुख चाहते हैं उनके ज्ञान नेत्र तिमिर रोग से नष्ट होगये हैं जो जानते हुए भी नहीं जान पाते व देखते हुए भी नहीं देख पाते। अर्थात् वे आंखें होते हुए भी अंधे हैं।

अविश्रान्तम सौजीवः यथाकामार्थं लालसः।
विद्यतेऽत्रयदि स्वार्थे तथार्किन विमुच्यते ॥१२४॥

अर्थ- यह जीव अनादि काल से विषय वासना व अर्थ लोलुपता में लगातार स्वार्थरत रहता आया

है फिर भी अभीतक ये नहीं छोड़े जाते ? अवश्य इन्हें छोड़ना चाहिये ।

गुणाधिकतया मन्ये सयोगी गुणिनां गुरुः ।
तन्निमित्तेऽपिनाक्षिप्तं क्रोधाद्यैर्यस्य मानसम् ॥१२५॥

अर्थ- जो योगी अपने मनको निमित्त मिलने पर भी क्रोधादि द्वारा दूषित नहीं होने देता वह अधिक गुणवान् है और वही योगी गुणवानों का भी गुरु है ।

यदि क्रोधादयः क्षीणास्तदाकिं खिद्यतेवृथा ।
तपोभिरथतिष्ठन्ति तपस्तत्राप्यपार्थकम् ॥१२६॥

अर्थ- यदि क्रोधादि कषाय क्षीण होगई है तो वहां तपादि का कष्ट भी व्यर्थ है कारण कि तपादि साधन कषायादि शान्ति के लिये ही किये जाते हैं अत कषायों का क्षीण होना ही मुख्य उद्देश्य है ।

यत्सुखं वीतरागस्य मुनेः प्रशम पूर्वकम् ।
नतस्यानन्त भागोऽपि प्राप्यते त्रिदशेश्वरैः ॥१२७॥

अर्थ- वीतराग मुनि के जो प्रशम सुख होता

है उसका अनन्तवां हिस्सा भी सुख देवेन्द्र को प्राप्त नहीं होता। दृश्यमान संसार ऋद्धियां इन्द्र के पास होते हुए भी कषायों की क्षीणता न होने से आत्मिक सुख नहीं मिलता कषायों की क्षीणता होने पर वीतराग मुनि के महान् सुख प्राप्त होता है।

एक एव मनोदैत्य जयः सर्वार्थ सिद्धिदः।
अन्यत्र विफलः क्लेशो यामिनां तज्जयं विना ॥१२८॥

अर्थ- ध्यान तप संयमादि जितने भी साधन किये जायं जहांतक मन पर विजय प्राप्त नहीं होती सब व्यर्थ क्लेश मात्र हैं अतः मनरूपी दैत्य का विजय करना ही सम्पूर्ण अर्थ सिद्धि को देने वाला है।

एक एव मनोरोधः सर्वाभ्युदय साधकः।
यमेवालम्ब्य संप्राप्त योगीनस्तत्वनिश्चयम् ॥१२९॥

अर्थ- एक चंचल मन का नियन्त्रण करना ही सम्पूर्ण ऐश्वर्य की सिद्धि का कारण है मनको वश में करके ही मुनिजन तत्व निश्चय को प्राप्त करते हैं।

ध्यान शुद्धि मनः शुद्धेः करोत्ये व न केवलं ।
विच्छिनत्य पिनिःशङ्कं कर्मजालानि देहिनाम् ॥१३०॥

अर्थ- मनकी शुद्धि ही ध्यान सिद्धि को प्राप्त कराती है जिसके ही बल से प्राणियों के निश्चय से कर्म समूह नष्ट होते हैं ।

यथा यथामनः शुद्धिर्मुनेः साक्षात्प्रजायते ।
तथा तथाविवेक श्रीर्हृदधत्ते स्थिरंपदं ॥१३१॥

अर्थ- जैसे जैसे मुनिराज के मनकी शुद्धि प्रत्यक्ष में होती जाती है वैसे वैसे विवेक लक्ष्मी उनके हृदय में स्थिर होकर निवास करती है ।

विभ्रमाद्विष यारण्ये चलच्चेतो वलीमुखः ।
येनरुद्धो ध्रुवं सिद्धं फलं तस्यैव वाञ्छितम् ॥१३२॥

अर्थ- विषय रूपी वन में चलायमान चित्त-रूपी व्याघ्र को जिसने रोक लिया है निश्चय से उसको मन वाञ्छित फल की सिद्धि होती है ।

चित्तमेकं नशक्नोतिजेतुं स्वातन्त्र्य वर्तियः ।
ध्यानवार्तां ब्रुवन्मूढः सकिंलोकेन लज्जते ॥१३३॥

अर्थ- जो प्राणी स्वतन्त्र घूमने वाले निरंकुश चित्त को नहीं जीत सकता और कहता है कि मैं ध्यान करता हूं व ध्यानी हूं तो उसे लोक में लज्जित होना चाहिये। अर्थात् बिना चित्त नियन्त्रण के ध्यान सिद्धि नहीं हो सकती।

यस्याचित्तं स्थिरीभूतं प्रसन्नं ज्ञानवासितम्।
सिद्धमेव मुनेस्तस्य साध्यं किं कायदण्डनैः ॥१३४॥

अर्थ- जिस मुनिराज का चित्त स्थिर है चलायमान नहीं है तथा प्रसन्न है निर्मल है तथा सम्यग्ज्ञान द्वारा सुरभित है बस उन साधु के साध्य पूरा हुवा आगे तपादि कायक्लेश उसके लिये व्यर्थ है कारण कि कार्य पूरा होने के बाद कारण निष्फल होते हैं।

तपःश्रुतयम ज्ञानतनुक्लेशादि संश्रयम।
अनियन्त्रित चित्तस्य स्यान्मुनेः तुषखण्डनम्।१३५।

अर्थ- तपः शास्त्र स्वाध्याय संयम ज्ञानाभ्यास कायक्लेश आदि कार्य में जिन मुनिराज का चित्त

चलायमान है उनके लिये तुषों को खांडने के समान है। जैसे आटा के बाद बचे हुए तुषों को खांडने से कुछ भी प्राप्त नहीं होता उसी तरह चित्त के वशीभूत हुए बिना यम तप काय क्लेशादि सब व्यर्थ है।

रागी बध्नाति कर्माणि वीतरागो विमुच्यते।
जीवो जिनोपदेशोऽयं समासाद्बन्ध मोक्षयोः॥१३६॥

अर्थ- रागवान पुरुष कर्मों का बंध करता है तथा वीतराग पुरुष कर्मों को नष्टकर मुक्त होजाता है यही संक्षेप में जिनेन्द्र भगवान के उपदेश में बन्ध मोक्ष की व्यवस्था है।

चिदचिल्लक्षणैर्भावै रिष्टानिष्टतया स्थितैः।
न मुह्यतिमनो यस्य तस्यसाम्ये स्थितिर्भवेत्॥१३७॥

अर्थ- चेतन व अचेतन पदार्थ परिस्थिति के अनुसार इष्ट व अनिष्ट होते हैं। काई पदार्थ स्वार्थ सिद्धि में सहायक हो वह इष्ट व जो स्वार्थ नाशक हो वह अनिष्ट ऐसे इष्ट पदार्थों में राग व अनिष्ट

में द्वेष न हो इस प्रकार जिनका चित्त मोहित न हो उनकी साम्यावस्था में स्थिति होती है।

साम्य सीमानमालम्ब्यकृत्वात्मन्यात्म निश्चयम् ।
पृथक् करोतिविज्ञानी संश्लिष्टे जीवकर्मणी ॥१३८

अर्थ- समता की सीमा को ही आश्रय करके आत्मा में आत्म बुद्धि को करके विज्ञानी नर अनादि काल से चिपके कर्म व जीव को अलग अलग कर देता है। इस प्रकार कर्म बन्धन से आत्मा को छुडा लेता है।

साम्य कोटिं समारूढो यमी जयति कर्म यत् ।
निमिषान्तेन तज्जन्मकोटि भिस्तपसेतरः ॥१३९॥

अर्थ- समता अवस्था को प्राप्त कर संयमी पुरुष एक क्षण में उतने कर्म समूह नष्ट कर देता है जितने दूसरा पुरुष करोड़ जन्म की तपस्या से भी नहीं कर पाता।

साम्यमेव परंध्यानं प्रणीतं विश्वदर्शिभिः ।
तस्यैव व्यक्तयेनूनं मन्येऽयं. शास्त्रविस्तरः ॥१४०

अर्थ- रागद्वेष रहित साम्य अवस्था की प्राप्ति ही विश्व के ज्ञाता भगवान ने उत्कृष्ट ध्यान बताया है उसी को समझाने के लिये ही यह सब विस्तार से वर्णन किया है।

अशेष परपर्यायैरन्य द्रव्यैर्विलक्षणम्।
निश्चिनोति यदात्मानं तदासाम्यं प्रसूयते॥१४१॥

अर्थ- सम्पूर्ण पर पदार्थ व उसकी पर्यायों से अपनी आत्मा को भिन्न निश्चित करता है तब ही साम्यावस्था आती है।

अस्तरागो मुनिर्यत्र वस्तुतत्वं विचिन्तयेत्।
तत्प्रशस्तंमतं ध्यानं सूरिभिःक्षीण कल्मषैः॥१४२॥

अर्थ- साधु राग द्वेष रहित वस्तु तत्व का विचार करे वही उत्तम ध्यान है ऐसा पाप रहित आचार्यों ने वर्णन किया है।

अज्ञात वस्तुतत्वस्य रागाद्यपहतात्मनः।
स्वातन्त्र्यवृत्तिर्यो जन्तोस्तदसद्ध्यान मुच्यते।१४३

अर्थ- जिन्होंने वस्तु तत्व नहीं जाना है तथा

रागद्वेषादि सहित जिनकी आत्मा है अपने मनोऽनुकूल जिनकी प्रवृत्ति हैं मन वचन काय पर जिनका नियन्त्रण नहीं है वह असद्ध्यान कहा जाता है।

आर्त रौद्रविकल्पेन दुर्ध्यानं देहिनां द्विधम् ।
द्विधा प्रशस्त मप्युक्तं धर्मशुक्ल विकल्पतः ॥१४४॥

अर्थ-आर्तरौद्र ये दुर्ध्यान के दो भेद है। तथा धर्म व शुक्ल ये शुभ ध्यान है।

स्यातां तत्रार्तरौद्रे द्वेदुर्ध्यानेऽत्यन्त दुःखदे ।
धर्मशुक्ले ततोऽन्येद्वे कर्म निर्मूल न क्षमे ॥१४५॥

अर्थ- आर्त व रौद्र ध्यान बुरे ध्यान है तथा अत्यन्त दुःख देने वाले हैं। तथा धर्म व शुक्ल ध्यान दोनों शुभ हैं व कर्म को समूल नष्ट करने में समर्थ है।

ज्ञानवैराग्यसंपन्नः संवृतात्मा स्थिराशयः ।
मुमुक्षुरुद्यमी शान्तोध्याताधीरः प्रशस्यते ॥१४६॥

अर्थ- ज्ञान व वैराग्य सहित नियंत्रण में है आत्मा जिनके स्थिर मन सहित मोक्ष प्राप्ति ही है

ध्येय जिनके उद्यमी पुरुष रागद्वेष रहित शान्त परिणामी धीर निश्चल ऐसे ध्यानवान पुरुष प्रशंसा के योग्य है।

अलौकिक महोवृत्तं ज्ञानिनः केनवर्ण्यते।
अज्ञानी बध्यतेयत्रज्ञानी तत्रैवमुच्यते ॥१४७॥

अर्थ- आचार्य कह रहे हैं कि ज्ञानी का चरित्र आश्चर्य जनक अलौकिक है उसका वर्णन करना कठिन है। जिन कार्यों के करने से अज्ञानी जीव कर्म बंध करते हैं तथा उन्हीं कार्यों के करने से ज्ञानी जीव कर्म से छूटते हैं। यह सब भाव के कारण ही संभव है।

रागादिमल विश्लेषाद्यस्य चित्तेसुनिर्मलम्।
सम्यक् स्वंसहि जानाति नान्यः केनापिहेतुना १४८

अर्थ-रागद्वेषादि दोष नष्ट होने से जिनका चित्त निर्मल होगया है वही अच्छी तरह से आत्मा को पहिचान सक्ते हैं अन्य किसी भी तरह से नहीं जानते।

ध्यान करने के अयोग्य स्थान का वर्णन कर रहे हैं—

विद्रवन्ति जना पापाः सञ्चरन्त्यभिसारिकाः ।
क्षोभयन्तीङ्गिताकारैर्यत्र नार्योपशङ्किताः ॥१४९॥

अर्थ- जिस स्थान पर पापी मनुष्य रहते हों दुराचारिणी स्त्रियों का आवागमन हो जहां पर स्त्रियां चेष्टा आदि द्वारा क्रोध भय व व्यभिचार प्रकट करती हों उस स्थान पर ध्यान न करे ।

किंचक्षोभाय मोहाय यद्विकाराय जायते ।
स्थानं तदपिमोक्तव्यंध्यान वि वंससङ्कितैः ॥१५०॥

अर्थ- जो स्थान क्रोध का कारण हो मोह का कारण हो कामादि विकार उत्पन्न करने में सहायक हो ऐसा स्थान भी ध्यान नष्ट होने की शंका के कारण छोड़ देना चाहिये ।

तृणकण्टक वल्मीक विषमोपल कर्दमैः ।
भस्मोच्छिष्टास्थिरक्ताद्यैर्दूषितां संत्यजेद्भुवम् ॥१५१॥

अर्थ-जहां पर कांटे अधिक हों घास अधिक हो सर्पादि की बिल हो पत्थर अधिक हों कीचड़

हो राख डाली जाती हो ऊंठा अन्नादि जहां डाला जाता हो हड्डियां जहां डाली गई हो जहां खून किया गया हो व खून चढ़ाया जाता हो ऐसी दूषित जमीन भी त्यागना चाहिये। ऐसे स्थान में ध्यान नहीं करना चाहिये।

काककोशिक मार्जारखर गोमायुमण्डलैः।
अवघुष्टं हि विघ्नायध्यातु कामस्य योगिनः॥१५२॥

अर्थ- कौवे अधिक हों, उल्लू रहते हों, बिलावों का स्थान हो, गधों का निवास हो, जहां गोमायु व मण्डल सर्पादि का स्थान हो ऐसा स्थान भी ध्यान की इच्छा वालों को त्याग देना चाहिये कारण कि विघ्न होता है।

ध्यान ध्वंस निमित्तानि तथा न्यान्यपि भूतले।
नहि स्वप्नेऽपिसेव्यानि स्थानानि मुनिसत्तमैः॥१५३॥

अर्थ- ध्यान नष्ट करने के कारण भूत ऐसे अन्य स्थान भी उत्तम मुनियों के द्वारा स्वप्न में भी ग्रहण करने के योग्य नहीं है। इस प्रकार ध्यान

न करने योग्य स्थान का वर्णन किया ।

आगे ध्यान करने योग्य स्थान का वर्णन कर रहे हैं—

यत्र रागादयो दोषाः अजस्रं यान्तिलाघवम् ।
तत्रैववसतिः साध्वी ध्यानकाले विशेषतः ॥१५४॥

अर्थ- जिस स्थान के महत्व के कारण राग-द्वेषादि विकार स्वाभाविक ही कम पड़ जाते हों विकार का कोई साधन न हो वहीं पर साधु के आश्रय योग्य स्थान है तथा विशेष करके ध्यान के लिये ऐसा ही स्थान चुनना चाहिये ।

दारुपट्टे शिलापट्टे भूमौ वा सिकतास्थले ।
समाधिसिद्धये धीरो विदध्यात्सुस्थिरासनम् ॥१५५॥

अर्थ- लकड़ी के पट्टे पर, शिला के पट्टे पर, साफ़ जमीन पर, वालुकामयी स्थल पर आत्मध्यान की सिद्धि के लिये दृढ़ आसन लगाकर ध्यान करना चाहिये ।

येन येन सुखासीना विदध्युर्निश्चलंमनः ।
तत्तदेव विधेयंस्यान्मुनिभिः बन्धुरासनम् ॥१५६॥

अर्थ- जिस प्रकार बैठने से व खड़े रहने रूप क्रिया से सुख मिले तथा निश्चल मन होसके उसी आसन से मुनिराज ध्यान करे।

कायोत्सर्गश्च पर्यङ्कः प्रशस्तं कैश्चिदीरितम।
देहिनां वीर्य वैकल्यात्काल दोषेण संप्रति ॥१५७॥

अर्थ- कायोत्सर्ग आसन खड्गासन व पद्मासन ये दो ही आसन इस समय ठीक रहते हैं कारण कि कालदोष से प्राणी हीन शक्ति वाले हैं व अन्य कठोर आसन में शान्ति से सुख से वे ध्यान नहीं लगा सकेंगे। यह अपवाद मार्ग है।

तद्धैर्यं यमिनांमन्ये न संप्रति पुरातनम्।
अथस्वप्नेऽपिनामास्थां प्राचीनां कर्तुमक्षमाः ॥१५८॥

अर्थ- पुरातन धैर्य व पुरातन आसनादि इस समय नहीं होसकते। कारण कि शक्ति की कमी से प्राचीन आस्था स्वप्न में भी नहीं होसकती। धैर्य ही ध्यान के लिये मुख्य साधन है।

पूर्वा शाभिमुखः साक्षादुत्तराभिमुखोऽपिवा ।
प्रसन्नवदनो ध्याता ध्यानकाले प्रशस्यते ॥१५९॥

अर्थ- पूर्व दिशा की तरफ मुख करके तथा उत्तर दिशा की तरफ मुख करके प्रसन्न मुख से ध्यान करने वाला ही ध्यान के समय में प्रशंसा के योग्य है ।

मुख्योपचार भेदेन द्वौ मुनी स्वामिनौमतौ ।
अप्रमत्त प्रमत्ताख्यौ धर्मस्यंतौ यथायथम् ॥१६०॥

अर्थ- मुख्य व उपचार भेद से ध्यान अवस्था में मुनि की दो अवस्थायें समयानुसार हुवा करती है प्रमत्त अवस्था व अप्रमत्तावस्था । ध्यान व आत्मा में लीन होते समय अप्रमत्तावस्था व फिर-प्रमादावस्था अंतर्मुहूर्त में कितने ही बार पृथक पृथक होती रहती है । इस प्रकार ध्यानावस्था में प्रमत्त से अप्रमत्त व अप्रमत से फिर प्रमत्त गुणस्थान होते रहते हैं ।

विजने जनसंकीर्णे सुस्थिते दुस्थितेऽपिवा ।
यदिधत्तेस्थिरं चित्तंनतदास्ति निषेधनम् ॥१६१॥

अर्थ- सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि जिस स्थान पर स्थिर चित्त होसके वहीं पर ध्यान करना चाहिये। चाहे वह स्थान मनुष्यों के द्वारा शून्य हो व चाहे तो मनुष्यों के समूह द्वारा व्याप्त हो उपर्युक्त रूप से उत्तम स्थान हो व उपर्युक्त रूप से खराब स्थान हो जहां पर स्थिर चित्त हो सके वहीं पर ध्यान करना चाहिये। कारण कि बहुत से अभ्यासी पुरुष अयोग्य स्थान में भी अपने चित्त को एकाग्र कर लेते हैं।

ध्यानकाल में किन मंत्रों का जाप करना चाहिये बतलाते हैं—

गुरुपञ्चनमस्कार लक्षणं मन्त्रमूर्जितम्।
विचिन्तयेज्जगन्तु पवित्री करणक्षमम् ॥१६२॥

अर्थ- णमो अरिहंताणं, आदि पंच नमस्कार मंत्र बड़ा व शोभनीक है संसार के प्राणीमात्र को पवित्र करने की शक्ति रखता है ऐसे पंच नमस्कार पद का जाप्य करे।

श्रियमात्यन्तिकीं प्राप्तायोगिनोयेऽत्रकेचन ।
अमुमेव महामन्त्रंते समाराध्य केवलम् ॥१६३॥

अर्थ- अत्यन्त बढ़ी हुई लक्ष्मी व कीर्ति को जिन योगियों ने प्राप्त किया है वे इसी महा मंत्र के जाप्य से व आराधना से प्राप्त हुई हैं ।

प्रभाव मस्य निश्शेषं योगिनामप्य गोचरम् ।
अनभिज्ञोजनोब्रूतेयः स मन्येऽनिलार्दितः ॥१६४॥

अर्थ- इसका पूर्ण प्रभाव योगियों द्वारा भी नहीं जाना जासका यदि कोई मूर्ख पुरुष इसके प्रभाव का वर्णन करे तो वह सन्निपात व प्रलाप वायु द्वारा पीडित है यह समझना ।

अनेनैव विशुद्धयन्ति जन्तवः पापपङ्किताः ।
अनेनेव विमुच्यन्ते भवक्लेशान्मनीषिणः ॥१६५॥

अर्थ- जिन्होंने नाना पाप किये हैं ऐसे अधम पुरुष भी इस महा-मंत्र से शुद्ध होजाते हैं । बुद्धिमान् पुरुष इसके जाप्य से सांसारिक क्लेश से छूट जाते हैं ।

असावेव जगत्यस्मिन् भव्य व्यसन बान्धवः ।
अमुंविहाय सत्त्वानांनान्यः कश्चित्कृपापरः॥१६६॥

अर्थ- भव्य पुरुषों के दुखों में बन्धु स्वरूप इस जगत में यह मंत्र ही है। इसको छोड़कर अधिक कृपा करने वाला और कोई भी इस जगत में नहीं है।

कृत्वा पापसहश्राणि हत्वाजन्तुशतानिच ।
अमुंमन्त्रं समाराध्य तिर्यञ्चोऽपिदिवंगताः॥१६७॥

अर्थ- हजारों जिन्होंने पाप किये हैं, सैकड़ों प्राणियों की जिन्होंने हिंसा की है ऐसे पशुओं ने भी इस मन्त्र की आराधना से देव पर्याय प्राप्त की है।

शतमष्टोत्तरं चास्य त्रिशुध्द्या चिन्तयन्मुनिः ।
भुञ्जानोऽपि चतुर्थस्य प्राप्नोत्य विकले फलं॥१६८॥

अर्थ- मन वचन काय शुद्धि पूर्वक १०८ बार इसका जाप्य करके साधु भोजनादि करता हुवा भी पूर्ण मोक्ष पुरुषार्थ फल को प्राप्त करता है।

एतद्व्यसन पाताले भ्रमत्संसार सागरे ।
अनेनैव जगत्सर्व मुद्धृत्य विधृतं शिवे ॥१६९॥

अर्थ- दुःख में पाताल में तथा संसार सागर में भ्रमण करते हुए पुरुष इसी मंत्र के प्रभाव से शिव को गये हैं ।

स्मरपञ्चपदोद्भूतां महाविद्यां जगन्नुताम् ।
गुरु पंचकनामोत्थां षोडषाक्षर राजिताम् ॥१७०॥

अर्थ- पंच पद वाली महान् विद्या, पंच परमेष्ठी के नाम स्वरूप सोलह अक्षर करकें युक्त ऐसे जगत्पूज्य मन्त्र का स्मरण करना चाहिये ।
' अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय सर्व साधुभ्यो नमः ' इस सोलह अक्षर वाले मंत्र का ध्यान करे । इसका फल बतला रहे हैं—

अस्याः शतद्वयं ध्यानी जपेन्नैकाग्रमानसः ।
अनिच्छन्नप्यवाप्नोति चतुर्थतपसःफलम् ॥१७१॥

अर्थ- इस मंत्र का २०० बार ध्यानी पुरुष एकाग्र चित्त से ध्यान करे तो विना इच्छा के भी

मोक्ष की प्राप्ति होती है।

विद्यां षड्वर्णसम्भूता मजय्यां पुण्यशालिनीम्।
जपन्प्रागुक्त मभ्येति फलं ध्यानी शतत्रयम्॥१७२॥

अर्थ- "अरहन्त सिद्ध" यह छः अक्षर वाला मन्त्र महान विद्या रूप है अजय्य है पुण्य शाली है इसके ३०० जाप्य करने से ध्यानी पुरुष को मोक्ष फल की प्राप्ति होती है।

चतुर्वर्णमयं मन्त्रं चतुर्वर्ग फलप्रदम्।
चतुः शतंजपन् योगी चतुर्थस्य फलं लभेत्॥१७३॥

अर्थ- "अरहन्त" इस चार अक्षर वाले मंत्र का योगी ४०० चारसो बार जाप्य करके धर्म अर्थ काम मोक्ष चारों पुरुषार्थ को प्राप्त करता है।

वीतरागस्य विज्ञेया ध्यानसिद्धिर्ध्रुवं मुनेः।
क्लेश एवतदर्थस्या द्रागार्त्तस्येह देहिनः॥१७४॥

अर्थ- उक्त मंत्रों के ध्यान का फल निश्चय करके वीतराग मुनि को ही प्राप्त होता है। यदि रागद्वेषी प्राणी इनका ध्यान करे तो व्यर्थ का कष्ट

ही होता है।

वीतरागी भवेद्योगी यत्किञ्चिदपिचिन्तयेत्।
तदेव ध्यान मा भ्रातमतोऽन्यद् ग्रन्थ विस्तरः॥१७५॥

अर्थ- वीतराग मुनि जो कुछ भी विचार करते हैं वह सब ध्यान ही गिना जाता है संक्षेप में यही ध्यान का लक्षण है और सब ग्रन्थ का विस्तार है। वीतरागी का विचार ध्यान ही है व रागी का ध्यान व्यर्थ है।

वीतरागं स्मरन्योगी वीतरागो विमुच्यते।
रागी सरागमालम्ब्य क्रूर कर्माश्रितो भवेत्॥१७६॥

अर्थ- वीतराग मुनि वीतराग का ही ध्यान करते हैं अतः मोक्ष प्राप्त करते हैं। व रागी पुरुष राग का अवलम्बन करके क्रूर कार्य कर्ता हो जाते हैं।

ध्यान संयम आदि सम्पूर्ण चारित्र बिना सम्यग्दर्शन के व्यर्थ है अतः सम्यग्दर्शन की प्रशंसा करते हैं—

चरणज्ञानयोर्बीजं यमप्रशम जीवितम्।
तपः श्रुताद्याधिष्ठानं सद्भिः सद्दर्शनं मतं॥१७७॥

अर्थ- चारित्र व ज्ञान का बीजभूत सम्यग्दर्शन ही है, बिना सम्यग्दर्शन के चारित्र व ज्ञान मिथ्या है इसी प्रकार सम्यग्दर्शन संयम व प्रशम भाव का जीवन है, तप व शास्त्र का आधार है ऐसा सत्पुरुषों ने माना है। बिना सम्यग्दर्शन के उक्त सब ही वृथा है।

अतुल सुख निधानं सर्व कल्याण बीजं।
जनन जलधि पोतं भव्य सत्वैक पात्रम्
दुरित तरु कुठारं पुण्य तीर्थ प्रधानं।
पिबत जित विपक्षं दर्शनाख्यं सुधाम्बुम् ॥१७८॥

अर्थ- सम्यग्दर्शन रूपी अमृत का पान करो कैसा है सम्यग्दर्शन रूपी अमृत अपार सुख का भण्डार है, सम्पूर्ण कल्याण का निमित्त रूप है, संसार सागर से तिरने को नौका के समान है तथा भव्य जीवों के लिये एकही पात्र रूप है, पाप रूपी वृक्ष के लिये कुठार रूप है, पुण्य-तीर्थों में प्रधान तीर्थ है एकान्त वाद को जिसने जीत लिया है ऐसे

महान् सम्यग्दर्शन रूपी अमृत का सभी को पान करना चाहिये ।

भाषा टीकाकार का अंतिम निवेदन—

ध्यान विचारः मरणं-समाधिना भावनादश द्व्यधिकम् । ग्रन्थत्रयं सुबद्धं श्रीज्ञानार्णव महामुनिना ॥ १ ॥

सत्वोपकार हेतुः सज्ज्ञानस्य प्रचार करणाय । आत्महित साधनाय संग्रह ग्रन्थानिरचितानि ॥२॥ भाषाटीका सरला जनसाधारण सुबोध करणाय । रचिता मयाऽल्प बुद्ध्यात्रुटिस्स्याच्चेतिक्षन्तव्य ॥३॥ ग्रन्थत्रयस्य भाषा अनन्तराजाख्यजैन वैद्येन । शाहाख्यगोत्रजेन निवासिनोज्जयिनी सद्रचिता॥४॥

इति श्री पूज्य १०८ महामुनि ज्ञानसागर कृत ध्यान विचार ग्रन्थ की उज्जयिनी निवासी अनन्तराज वैद्य कृत भाषाटीका समाप्त ॥ शुभं भूयात् सर्वेषां ॥

अथ श्री परमानन्द स्तोत्रम्

परमानंद संयुक्तं निर्विकारं निरामयं । ध्यान हीनाः न पश्यंति निजदेहे व्यवस्थितं ॥ १ ॥ अनन्त सुख संपन्नं ज्ञानामृत पयोधरं । अनन्त वीर्य संपन्नं दर्शनं परमात्मनं ॥ २ ॥ निर्विकारं निराबाधं सर्वसंगविवर्जितं ॥ परमानंद संपन्नं । शुद्ध चैतन्य लक्षणं ॥ ३ ॥ उत्तमा आत्मचिंता स्यात् । मोह चिंता च मध्यमा ॥ अधमा काम चिंता स्यात् । पर चिंता स्यात् धमा धमा ॥ ४ ॥ निर्विकल्प समुत्पन्नं । ज्ञान-मेव सुधारसं ॥ विवेक मांजुलि कृत्वा । तं पिबंति तपस्विनः ॥ ५ ॥ सदानंद मयं जीवं । यो जानाति स पण्डितः ॥ ससेवति निजात्मानं । परमानंद कारणम् ॥ ६ ॥ नलिन्यांच यथा नीरं । भिन्नं तिष्ठति सर्वदा ॥ अयमात्मा स्वभावेन । देहे तिष्ठति निर्मलः ॥ ७ ॥

द्रव्य कर्म मलै र्मुक्तं। भाव कर्म्म विवर्ज्जितं ॥ नो कर्म्म रहितं विद्धि । निश्चयेन चिदात्मनः ॥ ८॥ आनंद-ब्रह्मणो रूपं । निजदेहे व्यवस्थितं ॥ ध्यान हीना नपश्यंति । जात्यंधा इव भास्करं ॥ ९ ॥ सध्यानं क्रियते भव्य । मनोयेन विलीयते ॥ तत्क्षणं पश्यते शुद्धं । चिच्चमत्कार लक्षणं ॥ १० ॥ ये धर्म्म शीला मुनयः प्रधाना । स्ते दुःख हीना नियमाद्भवंति ॥ संप्राप्य शीघ्रं परमात्म तत्वं । व्रजंति मोक्षं क्षणमेक एव ॥ ११ ॥ आनंद रूपं परमात्म तत्वं । समस्त संकल्प विकल्प मुक्तं ॥ स्वभाव लीना निवसंतिनित्यं । जानाति योगी स्वयमेव तत्वं ॥ १२ ॥ चिदानंद मयं शुद्धं । निराकारं निरामयं ॥ अनंत सुख संपन्नं । सर्व संग विवर्जितं ॥ १३ ॥ लोक मात्र प्रमाणोहं । निश्चये नहि संशय ॥ व्यवहारे देह मात्रोपि । कथितं परमेश्वरैः ॥ १४ ॥ तत्क्षणां पश्यते शुद्धं । तत्क्षणां गत विभ्रमं ॥ स्वस्थ चित्तः स्थिरी भूत्वा । निर्विकल्प समाधिना ॥ १५ ॥ स एव परमब्रह्म । स एव जिन

पुंगवः ॥ स एव परमं तत्वं । स एव परमोगुरुः ॥ १६ ॥ सएव परमं ज्योतिः । सएव परमं तपः ॥ सएव परम ध्यानं । सएव परमात्मनः ॥ १७ ॥ सएव सर्व कल्याणं । सएव सुख भाजनं ॥ सएव शुद्धचिद्रूपं । सएव परमः शिवः ॥ १८ ॥ सएव परमानंद । सएव सुख दायकः ॥ सएव परम चैतन्यं । सएव गुण सागरः ॥ १९ ॥ परमाह्लाद संपन्नं । रागद्वेष विवर्ज्जितं ॥ अर्हंत देह मध्येसु । योजानाति स पंडितः ॥ २० ॥ आकार रहितं शुद्धं । स्वस्वरूपे व्यवस्थितं ॥ सिद्ध स्याष्ट गुणोपेतं । निर्विकारं निरंजनं ॥ २१ ॥ तत्सदृशं निजात्मानं । योजानाति स पण्डितः ॥ सहजानंद चैतन्यं । प्रकाशाय महीयसे ॥२२॥ पाषाणेषु यथा हेम । दुग्धमध्ये यथा घृतं ॥ तिलमध्ये यथा तैलं । देहमध्ये तथा शिवः ॥२३॥ काष्ठ मध्ये यथा वह्नि । शक्ति रूपेण तिष्टति ॥ अयमात्मा शरीरेषु । योजानाति स पण्डितः ॥ २४ ॥

अथ श्री सीमंधर स्वामिनस्स्तवन प्रारंभ

नत्वा जिनेंद्र गुरूपाद सरोरूहाणं । श्री सीमंधरस्य

जिनराज शिरोमणेते ॥ भक्त्या करोमि सुगुणैस्तवनं स्वशुद्धयै ॥ स्वाचार पंच विधजात मलान्निवेद्य ॥१॥ दृष्टै प्रभोऽवगमशंकम कांक्षणान्य । संशादिभिर्मम मलागुणहानपोये । तेते प्रशादा द्विफला भवंतु ॥ दृकक्षायिकं सहगुणैः परमस्त शीघ्रं ॥ २ ॥ कालादि हानि चरणान्ममदेव जाता । ये तिक्रमा प्रवर बोध सुशास्त्रवृत्ते ते यातुनाश मखिला लघु निंदनाद्यै राचार शुद्धिर मलाश्रुत गोचरास्तु ॥३॥ स्वामिन् प्रमाद वशऽतात्र महाव्रताना मासन् व्यतिक्रम चयाः सह पंच पापैः ॥ हिंसादिकै स्तवपुरो खिलमर्थनाशं । पात्वंत पाशुपरि पूर्ण महाव्रताःस्यु ॥ ४ ॥ ये गुप्ति सर्व समितेः प्रभवाश्च दोषा । स्तेनाथ मंत्र कथनात्क्षय माशुयांतु ॥ अष्टौ महाप्रवचनाद्वय मातरेमे । संपूर्ण तांच शशि निर्मल वृत्तमस्तु ॥ ५ ॥ जाताद्विषेट् सुतप सांममयेति चाराः । देवत्व देवपुर तोद्य निवेदनाच्चे ॥ व्यर्था भवंतु वरघोर महोग्रदीप्त । तप्तादयः सुतपसश्च मंत्रियोगे ॥ ६ ॥ वीर्यंमया तपासे गोपित मंजसातं । तद्दूषणं मम विभोद्यत बाग्रतोस्तु ॥ व्यर्थं निवेदितमलं

प्रवरं सुवीर्यं। सध्द्यानयोग तपसां चरणं च धैर्यं ॥७॥ मूलोत्तरादिषु गुणेषु महत्सु जाता। येतिक्रमाममदुराश्रय वाङ्मनोभिः ॥ तेनिंदितास्त्रिजगदीश गिरा तवाग्रे। खंडप्रयांतु लघु संतु गुणाः मदीयाः ॥८॥ कोपादिभिः सुखनिधौ दशधासुधर्म्मे। क्षांत्यादि लक्षण भवेद्य भवन् मला ये ॥ तेपुज्य मेतवगुणस्तुति वंदनाद्यै। र्नश्यंतुचासु निखिलोयतिधर्म्म एकः ॥९। मेचंचलेन मनसाति कुमार्गगेन। वाग्जाल जल्पनशतैस्तनु दुर्विकारं ॥ यदुष्कृतंव्यजनितत्सकलंत्वदंहि। भक्तेः प्रणश्यत विभोखिल शुद्धिरस्तु ॥१०॥ स्वप्नेऽशनेच गमने मम भाषणादौ। स्वावश्यके सुचरणे स्तुतिपाठ योगे॥ ध्यानादिके ममवभूवुरतिक्रमाद्या। येते प्रयांतु विलय जिनचाश्रयात्ते ॥११॥ आलोचनस्तव फलेनममार्चनेन। भक्त्यानमोद्भवशुभेन च यांतुनाशं ॥ सर्वेव्यतिक्रम चयालघु संयमादेः। सर्वा विशुद्ध्यइहेशपराभवंतु ॥१२॥ एतत्संस्तवनं परार्थजनकं सीमंधर स्वामीनो। दोषालोचन जं विशुद्धि करणंये स्वात्म शुद्धौबुधाः ॥ नित्यं भक्ति भरात्पठंति विधिना

कालत्रये शुद्धय। स्तेषां गुर्व्यइत्यैव निर्मल गुणाश्चा मुत्रस्वर्मुक्त्यः ॥ १३॥ इति शुभम् ॥

आत्म स्वरुप स्तवन— चिद्रूपोहं। अनंत ज्ञानोहं॥ अनंत दर्शनोहं॥ अनंतवीर्योहं॥१॥ अनंत सौख्योहं सिद्धोहं बुद्धोहं॥ अनंत ज्ञानगुण समृद्धोहं देह प्रमाणोहं॥२॥ नित्योहं अप्रसंख्योहं। अमृतोहं॥ परमानंदोहं। सहजानंदोहं। ३॥ चिदानंदोहं। चेतना नंदोहं॥ निराकारोहं। निराधारोहं॥४॥ निराबाधोहं। ज्ञानपिण्डोहं॥ ज्ञानमूर्तोहं। शांतोहं॥५॥ निरंजनोहं। उदासीनोहं॥ निर्विकलोहं। टंकोत्कीर्णोहं॥ लोकालोकप्रकाशकोहं। राग द्वेष मोह रहितोहं। निःकषायोहं। निरहंकारोहं॥ माया रहितोहं॥ निर्लोभोहं। चैतन्योहं। सहजनिर्मलोहं। एकोहं। त्रिलोकेशोहं। निर्देहोहं। निरिन्द्रियोहं। निःप्रमादोहं। निर्मदोहं। सप्तभव विमुक्तोहं। पंचप्रकार संसाराष्टकर्म्मरहितोहं। स्वसंवेद्योहं। नोकर्म्मभावकर्म्मद्रव्यकर्म्म रहितोहं॥ इति शुभम्॥

श्री जिनेन्द्र भवन स्तवन—दृष्टं जिनेन्द्र भवनं भव ताप हारी । भव्यात्मनां विभवसंभव भूरि हेतुः॥ दुग्धाब्धिफेनधवलो ज्वलकूट कोटी। नद्ध्वज प्रकरराजि विराजमानं ॥१॥ दृष्टं जिनेन्द्र भवनं भुवनै कलक्ष्मी । धर्मर्द्धिवर्द्धित महामुनि सेव्यमानं ॥ विद्या धरामर वधूजन मुक्तदिव्य । पुष्पांजलि प्रकरशोभित भूमिभागं ॥२॥ दृष्टं जिनेन्द्र भुवनं भवनादिवास । विख्यातनाकगणिकागणगीयमानं॥ नाना मणिप्रचय· भासुररश्मिजाल व्याली ढ़ निर्मल विशालगवाक्ष जालं ॥३॥ दृष्टं जिनेन्द्र भवनं सुरसिद्धयक्ष गंधर्व किन्नर करार्पित वेणुवीणा॥ संगीत मिश्रित नमस्कृत धार· नादै । रापूरिताम्बर तलोरु दिगंतरालम् ॥ ४ ॥ दृष्टं जिनेन्द्र भवनं विलसद्विलोल । मालाकुलालिल लितालक विभ्रमाणं ॥ माधुर्य वाद्यलय नृत्य विला· सिनीनां । लीला चलद्वलयनूपुरनाद रम्यम् ॥ ५ ॥ दृष्टं जिनेन्द्र भवनं मणिरत्नहेम । सारोज्ज्वलैः कलश चामर दर्पणाद्यैः॥ सन्मङ्गलैः सतत मष्टशतप्रभेदै । र्विभ्राजितं विमल मौक्तिक दामशोभम् ॥ ६ ॥ दृष्टं

जिनेन्द्र भवनं वर देवदारू । कर्पूर चन्दन तरुष्क सुगन्धि धूपैः ॥ मेघायमान गगने पवनाभिघात ॥ चञ्चच्चल द्विमल केतनतुङ्गशालम् ॥ ७॥ दृष्टं जिनेन्द्र भवनं धवलातपत्र । च्छायानिमग्नतनु यक्षकुमार वृंदैः ॥ दोधूय मान सित चामर पंक्ति भासं । भा-मण्डल द्युति युत प्रतिमाभिरामं ॥ ८॥ दृष्टं जिनेन्द्र भवनं विविध प्रकार । पुष्पोपहार रमणीय सुरत्नभूमिः॥ नित्यं वसन्त तिलकश्रिय मादधानं । सन्मंगलं सकल चंन्द्र मुनीन्द्र वंद्यम् ॥ ९ ॥ दृष्टं मयाद्यमणिकाञ्चन चित्रतुङ्ग । सिंहासनादि जिनबिम्ब विभूति युक्तम् ॥ चैत्यालयं यदतुलं परिकीर्तितं मे सन्मंगलं सकल चन्द्र मुनीन्द्र वन्द्यम् ॥१०॥ श्रेयः पदं जिगपष्तां मनीषिणांतनु भ्रताम तनु तिमित मुत्तमं। जिनेश्वर प्रकृति पुण्यकीर्तन प्रदेक्षिणो करण मिदं पुनातुनः ॥ ११ ॥ इति शुभम् ॥

अथ श्री अद्याष्टकस्तोत्र प्रारंभः ।

अद्यमे सफलं जन्म। नेत्रे च सफलेमम । त्वाम द्राक्षं-यतो देव ॥ हेतु मक्षय संपदः ॥ १ ॥ अद्य संसार गंभीर । पारावारः सुदुस्तरः ॥ सुतरोऽयंक्षणै नैव ।

जिनेन्द्र तव दर्शनात ॥ २ ॥ अद्यमे क्षालितंगात्रं । नेत्रेच विमलेकृते । स्नातोऽहं धर्म्मतीर्थेषु । जिनेन्द्र तव दर्शनात ॥ ३ ॥ अद्यमे सफलं जन्म । प्रशस्तं-सर्वमंगलम् ॥ संसारार्णवतीर्णोहं । जिनेन्द्र तव दर्श-नात ॥४॥ अद्यकर्माष्टकज्वालं । विधूतंसकषायकम ॥ दुर्गतेर्विनिवृत्तोऽहं । जिनेन्द्र तव दर्शनात ॥ ५ ॥ अद्यसौम्याग्रहासर्वे । शुभाश्चैकादशस्थिताः ॥ नष्टानि-विघ्नजालानि । जिनेन्द्र तव दर्शनात ॥ ६ ॥ अद्यन-ष्टोमहाबन्धः । कर्मणांदुःखदायकः ॥ सुखसंगसमापन्नो । जिनेन्द्र तव दर्शनात ॥७॥ अद्यकर्माष्टकंनष्ट । दुःखो-त्पादनकारकम ॥ सुखांभोधिनिमग्नोऽहं । जिनेन्द्र तव दर्शनात ॥ ८ ॥ अद्यमिथ्यान्धकारस्य । हन्ताज्ञान-दिवाकरः॥ उदितोमच्छिरोरेस्मिन । जिनेन्द्र तव दर्श-नात ॥९॥ अद्याहं सुकृतीभूतो । निर्धूताशेषकल्मषः ॥ भुवनत्रयपुज्योऽहं । जिनेन्द्र तव दर्शनात ॥ १० ॥ अद्याष्टकंपठेद्यस्तु गुणानन्दितमानसः ॥ तस्य सर्वार्थ संसिद्धि । जिनेन्द्र तव दर्शनात ॥ ११ ॥ इति शुभम॥

अथ श्री सुप्रभात स्तोत्र।

यत्स्वर्गावतरोत्सवे यदभवेज्जन्माभिषेकोत्सवे। यद्दीक्षा-ग्रेहणोत्सवे यदखिल ज्ञान प्रकाशोत्सवे ॥ यन्निर्वाण गमोत्सवे जिनपतेः पूजाद्भुतं तद्भवैः। संगीतस्तुति मंगलैः प्रसरतांमे सुप्रभातोत्सवः ॥ १ ॥ श्रीमन्नतामर किरीट माणि प्रभाभिरालीढ पादयुग दुर्धर कर्मदूर। श्रीनाभि-नंदन जिनाजित शंभवाख्य ॥ त्वद्ध्यानतोऽस्तु सततं मम सुप्रभातम् ॥२॥ छत्रत्रय प्रचलचामर वीज्यमान। देवाभिनंदन मुने सुमते जिनेन्द्रं ॥ पद्मप्रभारुण माणि द्युतिभासुराङ्ग। त्वद्ध्यानतोऽस्तुसततंमम सुप्रभातम् ॥३॥ अर्हनसुपार्श्वकदलीदलवर्णगात्रं। प्रालेयतारगिरि मौक्तिक वर्णगौर ॥ चन्द्रप्रभस्फाटिक पाण्डुर पुष्प-दन्त। त्वद्ध्यानतोऽस्तु सततंमम सुप्रभातम् ॥ ४ ॥ सन्तप्तकाञ्चनरुचे जिनशीतलाख्य। श्रेयान्विमष्ट दुरिताष्टकलंकपंक ॥ बन्धूक बंधुररुचे जिनवासुपूज्य। त्वद्ध्यानतोऽस्तु सततंमम सुप्रभातम् ॥५॥ उद्दंडदर्प-करिपोविमलामलाङ्ग। स्थेमन्ननन्त जिदनन्त सुखा-म्बुराशे ॥ दुष्कर्मकल्मषविवर्जित धर्मनाथ। त्वद्ध्या-

नतोऽस्तु सततंमम सुप्रभातम् ॥ ६ ॥ देवामरीकुसुम साम्रिमशान्तिनाथ। कुन्थो दया गुणविभूषणभूषिताङ्ग ॥ देवाधिदेव भगवन्नरतीर्थनाथ। त्वद्ध्यानतोऽस्तु सततंमम सुप्रभातम् ॥७॥ यन्मोह मल्लमदभञ्जनमल्लिनाथ। क्षेमंकरा वितथशासन सुव्रताख्य ॥ सत्सम्पदाप्रशमितोनमिनामधेय । त्वद्ध्यानतोऽस्तु सततंमम सुप्रभातम् ॥८॥ तापिच्छगुच्छरुचिरोज्ज्वल नेमिनाथ । घोरोपसर्गविजयिन जिनपार्श्वनाथ ॥ स्याद्वादसूक्तिमणिदर्पणवर्द्धमान । त्वद्ध्यानतोऽस्तु सततंमम सुप्रभातम् ॥९॥ प्रालेयनीलहरिता रुणपीतभासं । यन्मूर्तिमव्ययसुखावसथंमुनिन्द्राः ॥ ध्यायन्तिसप्ततिशतं जिनवल्लभानां। त्वद्ध्यानतोऽस्तु सततंमम सुप्रभातम् ॥१०॥ सुप्रभातं सुनक्षत्रं मांगल्यं परिकीर्तितम् । चतुर्विंशति तीर्थानां सुप्रभातं दिनेदिने ॥११॥ सुप्रभातं सुनक्षत्रं। श्रेयः प्रत्यभिनंदितम ॥ देवताऋषयःसिद्धाः। सुप्रभातंदिनेदिने ॥१२॥ सुप्रभातंतवैकस्य। वृषभस्यमहात्मनः। येन प्रवर्तितं तीर्थं। भव्यसत्वसुखावहम ॥१३॥ सुप्रभातं जिनेन्द्राणां। ज्ञानोन्मीलितचक्षुषाम । अज्ञान

तिमिरान्धानां । नित्यमस्तमितोरविः ॥१४॥ सुप्रभातं जिनेन्द्रस्य । वीरः कमललोचनः येनकर्माटवीदग्धा । शुक्ल ध्यानोग्निवन्हिना ॥ १५॥ सुप्रभातं सुनक्षत्रं । सुकल्याणं सुमंगलम । त्रैलोक्यहितकर्तृणां । जिनानामेव शासनम् ॥१६॥ इति शुभम् ॥

❀ अथ द्रव्य संग्रह । ❀

जीवमजीवं दव्वं जिणवरवसहेण जेण णिद्दिट्ठं । देविंदविंदवंदं वंदे तं सव्वदा सिरसा ॥१॥ जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो । भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥२॥ तिक्काले चदुपाणा इंदिय बलमाउ आणपाणो य । ववहारा सो जीवो णिच्चयणयदो दु चेदणा जस्स ॥३॥ उवओगो दुवियप्पो दंसणं णाणं चं दंसणं चदुधा । चक्खु अचक्खू ओही दंसणमध केवलं णेयं ॥४॥ णाणं अट्ठवियप्पं मदिसुदओही अणाणणाणाणि । मणपज्जय केवलमवि पच्चक्खपरोक्खभेयं च ॥५॥ अट्ठचदुणाणदंसण सामण्णं जीवलक्खणं भणियं । ववहारा सुद्धणया सुद्धं

पुण दंसणं णाणं ॥६॥ वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्चया जीवे। णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो ॥७॥ पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्चयदो। चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥८॥ ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मप्फलंप भुंजेदि। आदा णिच्चयणयदो चेदणभावं खु आदस्स ॥९॥ अणुगुरुदेहपमाणो उवसंहारप्पसप्पदो चेदा। असमुहदोववहारा णिच्चयणयदो असंखदेसो वा ॥१०॥ पुढविजलतेउवाऊवणप्फदी विविहथावरेइंदी। विगतिगचदुपंचक्खा तसजीवा होंति संखादी ॥११॥ समणा अमणा णेया पंचेंदिय णिम्मणा परे सव्वे। बादरसुहमेइंदी सव्वे पज्जत्त इदरा य ॥१२॥ मग्गणगुणठाणेहिय चउदसहिहवंतितहअसुद्धणया विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया ॥१३॥ णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा। लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवयेहिं संजुत्ता ॥१४॥ पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसबंधेहिं सव्वदो मुक्को। उड्ढं गच्छदि सेसा विदिसावज्जं गदिं जंति ॥१५॥ अज्जीवो पुण णेओ पुग्गल

धम्मो अधम्म आयासं। कालो पुग्गल मुत्तो रूवादि-गुणो अमुत्ति सेसा दु ॥१६॥ सद्दो बंधो सुहमो थूलो संठाणभेदतमछाया। उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया ॥१७॥ गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी। तोयं जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो णेई ॥१८॥ ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी। छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई ॥१९॥ अवगासदाणजोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं। जेणं लोगागासं अल्लोगागासमिदि दुविहं ॥२०॥ धम्माधम्मा कालो पुग्गलजीवा य संति जाव-दिये। आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुत्तो ॥२१॥ दव्वपरिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो। परिणामादीलक्खो वट्टणलक्खो य परमट्ठो ॥ २२ ॥ लोयायासपदेसे इक्केक्के जे ट्ठिया हु इक्केक्का। रयणाणं रासीमिव ते कालाणू असंखदव्वाणि ॥ २३ ॥ एवं छब्भेयमिदं जीवाजीवप्पभेददो दव्वं। उत्तं कालवि-जुत्तं णायव्वा पंच अत्थिकाया दु ॥२४॥ संति जदो तेणेदे अत्थीति भणंति जिणवरा जम्हा। काया इव

बहुदेसा तम्हा काया य अत्थिकाया य ॥२५॥ होंति असंखा जीवे धःमाधम्मे अणंत आयासे। मुत्ते तिवह पदेसा कालस्से गो ण तेण सो काओ ॥२६॥ एयपदेसो वि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि। बहुदेसो उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वण्हु ॥२७॥ जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणुवट्टद्धं। तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं ॥२८॥ आसवबंधणसंवरणिज्जरमोक्खा सपुण्णपावा जे। जीवाजीवविसेसा ते वि समासेण पभणामो ॥२९॥ आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ। भावासवो जिणुत्तो कम्मासवणं परो होदि ॥३०॥ मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोहादओ थ विण्णेया। पण पण पणदह तिय चदु कमसो भेदा दु पुव्वस्स ॥ ३१। णाणावरणा[illegible]णं जोग्गं जं पुग्गलं समासवदि। दव्वासवो स णेओ अणेयभेओ जिणक्खादो ॥३२॥ बज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबंधो सो। कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो ॥३३॥ पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसभेदा दु चदुविधो बंधो। जोगापयडिपदेसा ठिदिअणुभागा

कसायदो होंति ॥३४॥ चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेऊ। सो भावसंवरो खलु दव्वासवरोहणे अण्णो ॥३५॥ वदसमिदीगुत्तीओ धम्माणुपेहा परीसहजओ य। चारित्तं बहुभेयं णायव्वा भावसंवरविसेसा ॥३६॥ जहकालेण तवेण य भुत्तरसं कम्मपुग्गलं जेण। भावेण सडदि णेया तस्सडनं चेदि णिज्जरा दुविहा ॥३७॥ सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू अप्पणो हु परिणामो। णेओ स भावमोक्खो दव्वविमोक्खो य कम्मपुधभावो ॥३८॥ सुहअसुहभावजुत्ता पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा। सादं सुहाउ णामं गोदं पुण्णं पराणि पावं च ॥३९॥ सम्मद्दंसण णाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे। ववहारा णिच्चयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा ॥४०॥ रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुयतु अण्णदवियम्हि। तम्हा तत्तियमइओ होदि हु मोक्खस्स कारणं आदा ॥४१॥ जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं रूवमप्पणो तं तु। दुरभिणिवेसविमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जम्हि ॥४२॥ संसयविमोहविब्भमविवज्जियं अप्पपरसरूवस्स। गहणं सम्मंणाणं सायारमणेयभेयं

च ॥४३॥ जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं। अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णये समये ॥४४॥ दंसणपुव्वं णाणं छदुमत्थाणं ण दुण्णि उवओगा। जुगवं जम्हा केवलिणाहे जुगवं तु ते दोवि ॥४५॥ असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं। वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं ॥४६॥ बहिरब्भंतरकिरियारोहो भवकारणप्पणासट्ठं। णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्मचारित्तं ॥४७॥ दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा। तम्हा पयत्तचित्ता जुयं झाणं समब्भसह ॥४८॥ मा मुज्झह मा रज्जह मा दुस्सह इट्ठणिट्ठअत्थेसु। थिरमिच्छह जइ चित्तं विचित्तझाणप्पसिद्धीए ॥४९॥ पणतीस सोल छप्पण चदु दुगमेगं च जवह झाएह। परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरूवएसेण ॥५०॥ णट्ठ-चदुघाइकम्मो दंसणसुहणाणवीरियमईओ। सुहदेह-त्थो अप्पा सुद्धो अरिहो विचिंतिज्जो ॥५१॥ णट्ठट्ठ-कम्मदेहो लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा। पुरिसायारो अप्पा सिद्धो झाएह लोयसिहरत्थो ॥५२॥ दंसणणा-

णपहाणे वीरियचारित्तवरतवायारे । अप्पं परं च जुंजइ सो आयरिओ मुणी झेओ ॥५३॥ जो रयणत्तयजुत्तो णिच्चं धम्मोवएसणे णिरदो। सो उवझाओ अप्पा जदिवरवसहो णमो तस्स ॥५४॥ दंसणणाणसमग्गं मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं । साधयदि णिच्चसुद्धं साहू स मुणी णमो तस्स ॥५५॥ जं किंचिवि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू । लद्धूणय एयत्तं तदाहु तं तस्स णिच्चयं झाणं ॥५६॥ मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किंबि जेण होई थिरो। अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव पर हवे झाणं ॥ ५७ ॥ तव सुदवदवं चेदा झाणरहधुरंधरो हवे जम्हा । तम्हा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होह ॥५८॥ दव्वसंगहमिणं मुणिणाहा दोससंचयचुदा सुदपुण्णा । सोधयंतु तणुसुत्तधरेण णेमिचंदमुणिणा भाणियं जं ॥ ५९ ॥ इति शुभम् ॥

❀ सामायिक पाठ । ❀

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् । माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव ॥१॥ शरीरतः कर्त्तुमनन्तशक्तिं विभिन्नमात्मानमपा-

स्तदोषम्। जिनेन्द्र कोषादिव खड्गयष्टिं तव प्रसादेन ममास्तु शक्तिः॥२॥ दुःखे सुखे वैरिणि बन्धुवर्गे योगे वियोगे भवने वने वा। निराकृताशेषममत्वबुद्धेः समं मनो मेस्तु सदापि नाथ॥३॥ मुनीश! लीनाविव कीलिताविव स्थिरौ निपातविव बिम्बिताविव। पादौ त्वदीयौ मम तिष्ठतां सदा तमोधुनानौ हृदि दीपकाविव॥४॥ एकेन्द्रियाद्या यदि देव देहिनः, प्रमादतः संचरता इतस्ततः। क्षता विभिन्ना मिलिता निपीडिता, तदस्तु मिथ्या दुरनुष्ठितं तदा॥५॥ विमुक्तिमार्गप्रतिकूलवर्त्तिना मया कषायाक्षवशेन दुर्धिया। चारित्रशुद्धेर्यदकारि लोपनं तदस्तु मिथ्या मम दुष्कृतं प्रभो॥६॥ विनिन्दनालोचनगर्हणैरहं, मनोवचः कायकषायनिर्मितम्। निहन्मि पापं भवदुःखकारणं विषाविष मन्त्रगुणैरिवाखिलम्॥७॥ अतिक्रमं यद्धिमतेर्व्यतिक्रमं जिनातिचारं सुचरित्रकर्म्मणः व्यधादनाचारमपि प्रमादतः प्रतिक्रमं तस्य करोमि शुद्धये॥८॥ क्षतिं मनः शुद्धिविधेरतिक्रमं व्यतिक्रमं शीलवृतेर्विलंघनम्। प्रभोऽतिचारं विषयेषु वर्तनं वदन्त्यनाचारमिहातिशक्तिताम्

॥९॥ यदर्थमात्रापदवाक्यहीनं मया प्रमादाद्यदि किञ्च-नोक्तम् । तन्मे क्षमित्वा विदधातु देवी सरस्वती केवलबोधलब्धिम् ॥१०॥ बोधिः समाधिः परिणाम-शुद्धिः स्वात्मोपलब्धिः शिवसौख्यसिद्धिः । चिन्ता-मणिं चिन्तितवस्तुदाने त्वां वंद्यमानस्य ममास्तु देवि ॥११॥ यः स्मर्यते सर्वमुनीन्द्रवृन्दैर्यः स्तूयते सर्वनरा-मरेन्द्रैः । यो गीयते वेदपुराणशास्त्रैः, स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१२॥ यो दर्शनज्ञानसुखस्वभावः, समस्तसंसा-विकारबाह्यः समाधिगम्यः परमात्मसंज्ञः, स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥ १३ ॥ निषूदते यो भवदुःखजालं, निरीक्षते यो जग-दन्तरालं । योऽन्तर्गतो योगिनिरीक्षणीयः स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१४॥ विमुक्तिमार्गप्रतिपादको यो, यो जन्ममृत्युव्यसनाद्व्यतीतः । त्रिलोकलोकी विक-लोऽकलङ्कः, स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१५॥ क्रो-डीकृताशेषशरीरिवर्गाः, रागादयो यस्य न संति दोषाः । निरिन्द्रियो ज्ञानमयोऽनपायः, स देवदेवो हृदयें मम-स्ताम् ॥ १६ ॥ यो व्यापको विश्वजनीनवृत्तेः सिद्धो

विबुद्धो धुतकर्मबन्धः। ध्यातो धुनीते सकलं विकारं, स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१७॥ न स्पृश्यते कर्म-कलङ्कदोषैर्यो ध्वान्तसंघैरिव तिग्मरश्मिः। निरञ्जनं नित्यमनेकमेकं, तं देवमास्तं शरणं प्रपद्ये ॥१८॥ विभासते यत्र मरीचिमालि, न विद्यमाने भुवनावभासि। स्वात्मस्थितं बोधमयप्रकाशं तं देवमास्तं शरणं प्रपद्ये ॥ १९ ॥ विलोक्यमाने सति यत्र विश्वं, विलोक्यते स्पष्टमिदं विविक्तम्। शुद्धं शिवं शान्तमनाद्यनन्तं, तं देवमास्तं शरणं प्रपद्ये ॥२०॥ येन क्षता मन्मथमानमूर्च्छा, विषादनिद्राभयशोकचिंता। क्षयाऽनलेनेव तरुप्रपञ्चस्तं देवमास्तं शरणं प्रपद्ये ॥२१॥ न संस्तरोऽश्मा न तृणं न मेदिनी, विधानतो नो फलको विनिर्मितः। यतो निरस्ताक्षकषायविद्विषः, सुधीभिरात्मैव सुनिर्मलो मतः ॥२२॥ न संस्तरो भद्रसमाधिसाधनं, न लोकपूजा न च संघमेलनम्। यतस्ततोऽध्यात्मरतो भवानिश, विमुच्य सर्व्वामपि बाह्यवासनाम् ॥२३॥ न सन्ति बाह्या मम केचनार्था, भवामि तेषां न कदाचनाहम्। इत्थं विनिश्चित्य विमुच्य बाह्यं, स्वस्थः

सदा त्वं भव भद्र मुक्त्यै ॥२४॥ आत्मानमात्मन्यव-लोकमानस्त्वं दर्शनज्ञानमयो विशुद्धः । एकाग्रचित्तः खलु यत्र तत्र, स्थितोपि साधुर्लभते समाधिम् ॥२५॥ एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा, विनिर्मलः साधिगम-स्वभावः । बहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ता, न शाश्वताः कर्मभवा स्वकीयाः ॥२६॥ यस्यास्ति नैक्यं वपुषापि सार्द्धं, तस्यास्ति किं पुत्रकलत्रमित्रैः । पृथक्कृते च-र्मणि रोमकूपाः । कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये ॥२७॥ संयोगतो दुःखमनेकभेदं, यतोऽश्नुते जन्मवने शरीरी। ततस्त्रिधासौ परिवर्जनीयो, यियासुना निर्वृतिमात्मनी-नाम् ॥२८। सर्वं निराकृत्य विकल्पजालं, संसारका-न्तारनिपातहेतुम् । विविक्तमात्मानमवेक्ष्यमाणो, निलीय-से त्वं परमात्मतत्त्वे ॥२९॥ स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम् । परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुट, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा ॥३०॥ निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो, न कोपि क-स्यापि ददाति किंचन । विचारयन्नेवमनन्यमानसः, परो ददातीति विमुच्य शेमुषीम् ॥३१॥ यैः परमात्मा

ऽमितगतिवन्द्य, सर्वविविक्तो भृशमनवद्यः। शश्वद-
र्धीते मनसि लभन्ते, मुक्तिनिकेतं विभवबरं ते ॥३२॥
इति द्वात्रिंशतांवृत्तैः, परमात्मानमीक्षते। योऽनन्यगत-
चेतस्को, यात्यसौ पदमव्ययम् ॥३३॥ इति शुभम् ॥

सामायिक पाठ भाषा।

—卐—

हे जिनेन्द्र! सब जीवन से हो मैत्री भाव हमारे।
दुःख दर्द पीड़ित प्राणिन पर करूँ दया हर वारे॥
गुणधारी सत्पुरुषन पर हो हर्षित मन अधिकारे।
नहीं प्रेम नहिं द्वेष वहां विपरीत भाव जो धारे॥१॥
हे जिनेन्द्र! अब भिन्न करनको इस शरीरसे आतम।
जो अनन्त शक्तीधर सुखमय दोषरहित ज्ञानातम॥
शक्ति प्रगट हो मेरेमें अब तव प्रसाद परमातम।
जैसे खड्ग म्यानसे काढ़त अलग होत तिम आतम॥२॥
दुःख सुखोंमें, शत्रु मित्रमें, हो समान मन मेरा।
वन मंदिरमें लाभ हानिमें हो समताका डेरा॥
सर्व जगतके थावर जंगम चेतन जड़ उलझेरा।

तिनमें ममत करूं नहिं कबहूं छोडुं मेरा तेरा ॥३॥
हे मुनीश ! तव ज्ञानमयी चरणोंको हियमें ध्याऊं ।
लीन रहे, वे कीलित होवें, थिर उनको बिठलाऊं ॥
छाया उनकी रहे सदा सब औगुण नष्ट कराऊं ।
मोह अँधेरा दूर करनको, रत्न दीप सम भाऊं ॥४॥
एकेन्द्री दोइन्द्री आदिक, पंचेन्द्री पर्यंता ।
प्राणिनको प्रमादवश होके इत उत में विचरंता ॥
नाश छिन्न दुःखित कीने हों मेले कर कर अन्ता ।
सो सब दुराचारकृत कल्मष दूर होहु भगवन्ता ॥५॥
रत्नत्रय मय मोक्षमार्गसे उल्टा चलकर मैंने ।
तज विवेक इन्द्रियवश होके अर कषाय आधीने ॥
सम्यक् व्रत चारित्रशुद्धिका किया लोप हो मैंने ।
सो सब दुष्कृत पाप दूर हों, शुद्ध किया मन मैंने ॥६॥
मन वच काय कषायनके वश जो कुछ पाप किया है ।
है संसार दुःखका कारण ऐसा जान लिया है ॥
निन्दा गर्हा आलोचनसे ताको दूर किया है ।
चतुर वैद्य जिम मन्त्र गुणोंसे विष संहार किया है ॥७॥
अतिभ्रष्ट हो हे जिन ! मैंने जो अतिक्रम करडाला ।

सुआचार कर्मोंमें व्यतिक्रम अतीचार भी डाला ॥
हो प्रमाद आधीन कदाचित अनाचार कर डाला ।
शुद्ध करणको इन दोषोंके प्रतिक्रम कर्म सम्हाला ॥८॥
मन विशुद्धिमें हानि करे जो, वह विकार अतिक्रम है ।
शील स्वभाव उलंघनकी मति सो जानो व्यतिक्रम है ॥
विषयोंमें वर्तन होजाना, अतीचार नहिं कम है ।
स्वच्छंदी बनकर प्रवृत्ति सब अनाचार इकदम है ॥९॥
मात्रा पद अरु वाक्यहीन या अर्थहीन वचनोंको ।
कर प्रमाद बोला हो मैंने दोष सहित वचनोंको ॥
क्षम्य ! क्षम्य ! जिनवाणि सरस्वति ! शोधो मम वचनोंको ।
कृपा करो हे मात ! दीजिये पूर्ण ज्ञान रतनोंको ॥१०॥
वार वार वन्दूँ जिन माता ! तू जीवन सुखदाई ।
मन चिन्तित वस्तुको देवे चिन्तामणि सम भाई ॥
रत्नत्रय अर ज्ञान समाधी शुद्ध भाव इकताई ।
स्वात्मलाभ अर मोक्षसुखोंको सिद्धी दे जिनमाई ॥११॥
सर्व साधु यति ऋषी और अनगार जिन्हें सुमरे हैं ।
चक्रधार अर इन्द्र देवगण जिनकी थुती करे हैं ॥
वेद पुराण शास्त्र पाठोंमें जिनका गान करे हैं ।

परमदेव मम हृदय विराजो तुझमें भाव भरे हैं ॥१२॥
सबको देखन जाननवाला सुख स्वभाव सुखकारी ।
सब विकारी भावोंसे बाहर जिनमें हैं संसारी ॥
ध्यान-द्वार अनुभवमें आवे, परमातम शुचिकारी ।
परमदेव मम हृदय-विराजो भाव तुझीमें भारी ॥१३॥
सकल दुःख संसारजालके जिसने दूर किये हैं ।
लोकालोक पदारथ सारे युगपत् देख लिये हैं ॥
जो मम भीतर राजत है मुनियोंने जान लिये हैं ।
परमदेव मम हृदय-विराजो सम रस पान किये हैं ॥१४॥
मोक्षमार्ग त्रय रत्न मयी जिसका प्रगटावनहारा ।
जामन मरण आदि दुःखोंसे सब दोषोंसे न्यारा ॥
नहिं शरीर नहिं कलङ्क कोई लोकालोक निहारा ।
परमदेव मम हृदय विराजो तुम बिन नहिं निस्तारा ॥१५॥
जिनको संसारी जीवोंने अपना कर माना है ।
राग द्वेष मोहादिक जिसके दोष नहीं जाना है ॥
इन्द्रिय रहित सदा अविनाशी ज्ञानमयी बाना है ।
परमदेव मम हियमें तिष्ठो करता कल्याणा है ॥१६॥
जिसका निर्मल ज्ञान जगतमें है व्यापक सुखदाई ।

सिद्ध बुद्ध सब कर्मबन्धसे रहित परम जिनराई ॥
जिसका ध्यान किये क्षणक्षणमें सब विकार मिटजाई ।
परमदेव मम हियमें तिष्ठो यही भावना भाई ॥१७॥
कर्ममैलके दोष सकल नहिं जिसे स्पर्श पाते हैं ।
जैसे सूरजकी किरणोंसे तम समूह जाते हैं ॥
नित्य निरंजन एक अनेकी इम मुनिगण ध्याते हैं ।
उसी देवको अपना लखकर हम शरणा आते हैं ॥१८॥
जिसमें तापकरण सूरज नहिं ज्ञानमयी जगभासी ।
बोध भानु सुख शांति सुकारक शोभ रहा सुविकासी ॥
अपने आतममें तिष्ठे है रहित सकल मल फासी ।
उसी देवको अपना लखकर शरणा ली भवत्रासी ॥१९॥
जिसमें देखत ज्ञान दर्शसे सकल जगत प्रतिभासे ।
भिन्न भिन्न षट्द्रव्यमयी गुण पर्ययमय समतासे ॥
शुद्ध शांत शिवरूप अनादी जिन अनंत फटिकासे ।
उसी देवको अपना लखकर शरणा ली सुख भासे ॥२०॥
जिसने नाश किये मन्मथ अभिमान परिग्रह भारी ।
मन विषाद निद्रा भय चिंता रती शोक दुखकारी ॥
जैसे वृक्ष समूह जलावत वन अग्नी भयकारी ।

उसी देवको अपना लखकर शरणा ली सुखकारी ॥२१॥
है व्यवहार विधान शिला पृथ्वी तृणका संथारा ।
निश्चयसे नहिं आसन हैं ये इनमें नहिं कुछ सारा ।
इंद्रिय विषय कषाय द्वेषसे विरहित आतम प्यारा ॥
ज्ञानी जीवोंने गुण लखकर आसन उसे विचारा ॥२२॥
नहिं संथारा कारण हैगा निज समाधिका भाई ।
नहिं लोगोंसे पूजा पाना संघ मेल सुखदाई ॥
रात दिवस निज आतममें तू लीन रहो गुणगाई ।
छोड़ सकल भव रूप वासना नि जमें कर इकताई ॥२३॥
मम आतम बिन सकल पदारथ नहिं मेरे होते हैं ।
मैं भी उनका नहिं होता हूं नहिं वे सुख बोते हैं ॥
ऐसा निश्चय जान छोड़के बाहर निज टोते हैं ।
उन सम हम नित स्वस्थ रहें लें मुक्ति कर्म खोते हैं ॥२४॥
निज आतममें आतम देखो हे मन परम सुहाई ।
दर्शन ज्ञानमयी अविनाशी परम शुद्ध सुखदाई ॥
चाहे जिसी ठिकाने पर हो हो एकाग्र सुहाई ।
जो साधु आपेमें रहते सच समाधि उन पाई ॥२५॥
मेरा आतम एक सदा अविनाशी गुण सागर है ।

निर्मल केवल ज्ञानमयी सुख पूरण अमृतघर है ॥
और सकल जो मुझसे बाहर देहादिक सब पर है ।
नहीं नित्य, निजकर्म उदयसे बना यह नाटकघर है ॥२६॥
जिसका कुछ भी ऐक्य नहीं है इस शरीरसे भाई ।
तब फिर उसके कैसे होंगे नारी बेटा भाई ॥
मित्र शत्रु नहिं कोई उसका नहिं सँग साथी दाई ।
तनसे चमड़ा दूर करे नहिं रोम छिद्र दिखपाई ॥२७॥
परके संयोगोंमें पड़ तनधारी बहु दुख पाया ।
इस संसार महावन भीतर कष्ट भोग अकुलाया ॥
मन वच कायासे निश्चयकर सबसे मोह छुड़ाया ।
अपने आतमकी मुक्तीने मनमें चाव बढ़ाया ॥२८॥
इस संसार महावन भीतर पटकनके जो कारण ।
सर्व विकल्प जाल रागादिक छोड़ो शर्म निवारण ॥
रे मन ! मेरे देख आत्मको भिन्न परम सुखकारण ।
लीन होहुं परमातम माहीं जो भवताप निवारण ॥२९॥
पूर्व काल में कर्मबन्ध जैसा आतमने कीना ।
तैसा ही सुख दुख फल पावे होवे मरना जीना ॥

परका दिया अगर सुख दुख पावे यह बात सही ना।
अपना किया निरर्थक होवे सो होवे कबहू ना ॥३०॥
अपने ही बांधे कर्मोंके फलको जिय पाते हैं।
कोई किसी को देता नाहीं ऋषिगण इम गाते है ॥
कर विचार ऐसा दृढ़ मनसे जो आतम ध्याते हैं।
पर देता सुख दुख यह बुद्धि नहिं चितमें लाते हैं॥३१॥
जो परमातम सर्व दोषसे रहित भिन्न सबसे है।
अमितगति आचारज वन्दे मनमें ध्यान करे है ॥
जो कोई नित ध्यावे मनमे अनुभव सार करे है।
श्रेष्ठ मोक्ष-लक्ष्मीको पाता आनन्द ज्ञान भरे है ॥३२॥
इन बत्तीस पदनसे भविजन परमातम ध्याते हैं।
मनको कर एकाग्र स्वात्ममें अव्यय पद पाते हैं ॥
सुखसागर वर्द्धनके कारण सत अनुभव लाते हैं ॥
सच्ची सामायिकको पाकर भवदधि तर जाते हैं ॥३३॥

॥ इति शुभम् ॥

॥ मूलाचार की गाथा ॥

कायेंद्रिय गुण मार्गणा कुलायु योंनिषु सर्व जीवानाम् ।
ज्ञात्वा च स्थानादिषु हिंसादि विवर्जनमाहिंसा ॥ १ ॥
रागादिभिः असत्यं त्यक्त्वा परताप सत्यवचनोक्तिं ।
सूत्रार्थ विकथने अयथावचनोज्झनं सत्यम् ॥ २ ॥
ग्रामादिषु पतितादि अल्प प्रभृति परेण संगृहितं ।
नआदानं पर द्रव्यं अदत्त परि वर्जनं तं तत् ॥३॥
मातृसुता भगिनी रिवदृष्ट्वास्त्री त्रिकंच प्रतिरूपम् ।
स्त्री कथादि निवृत्तिः त्रिलोक पूज्यं भवेत् ब्रह्म ॥४॥
जीवनिबद्धा बद्धाः परिग्रहा जीव संभवाश्चैव ॥ तेषां
शक्त्या त्यागः इतरस्मिन्च निर्ममोऽसंगः ॥५॥ प्रासुक
मार्गेण दिवायुगांतर प्रेक्षणा सकार्येण । जंतून्
परिहरता ईर्यासमितिः भवेत गमनम् ॥ ६ ॥ पैशून्य
हास्य कर्कश परनिंदात्म प्रशंसा विकथादीन् । वर्ज-
यित्वा स्वपराहितं भाषा समितिः भवेत् कथनम ॥७॥
षटचत्वारिंशद्दोष शुद्धं कारण युक्तं विशुद्ध नवकोटि ।
शीतादि समभुक्तिः परिशुद्धा एषणा समितिः ॥ ८ ॥
ज्ञानोपधिंसंयमोपधिं शौचोपधिं अन्य मप्युपधिं वा ।

प्रयतं ग्रहनिक्षेपौ समितिः आदान निक्षेपा ॥ ९ ॥ एकांते अचित्ते दूरे गूढे विशाले अविरोधे । उच्चारादि त्यागः प्रतिष्ठा पनिका भवेत् समितिः ॥ १० ॥ सचित्ता चित्तानां क्रिया संस्थान वर्णभेदेषु । रागादि संग हरणं चक्षु निरोधो भवेत् मुनेः ॥ ११ ॥ षड्जादि जीव शब्दा वीणाद्य जीव संभवाः शब्दाः । रागादीनां निमित्तानितद करणं श्रोत्र रोधस्तु ॥१२॥ प्रकृति वासना गंधे जीवा जीवात्मके सुखे असुखे । रागद्वेषा करणं घ्राण निरोधो मुनिवरस्य ॥१३॥ अशनादि चतुर्विकल्पे पंचरसे प्रासुके निरवद्ये । इष्टा निष्टा हारे दत्ते जिह्वा जयोऽगृद्धिः ॥१४॥ जीवाजीव समुत्थे कर्कश मृदुकाद्यष्टभेदयुते । स्पर्शे सुखे वा असुखे स्पर्श निरोधः असंमोहः ॥ १५ ॥ समता स्तवश्च वंदना प्रतिक्रमणं तथैवज्ञातव्यं । प्रत्याख्यानं विसर्गः करणीया आवश्यकाः षडपि ॥१६॥ जीवित मरणयोः लाभा लाभयोः संयोग विप्रयोगेच । बंध्वरि सुख दुःखादिषु समता सामायिकं नाम ॥ १७ ॥ ऋषभादि जिनवराणां नाम निरुक्तिं गुणानु कीर्तिं च । कृत्वा

अर्चयित्वा च त्रिशुद्धि प्रणामः स्तवोज्ञेयः ॥ १८ ॥ अर्हत्सिद्ध प्रतिमा तपः श्रुत गुण गुरू गुरूणां राधीनाम् । कृत कर्मणा इतरेणच त्रिकरण संकोचनं प्रणामः ॥ १९ ॥ द्रव्ये क्षेत्रे काले भावेच कृता पराध शोधनम्। निंदन गर्हण युक्तो मनोवचः कायेन प्रति क्रमणम् ॥ २० ॥ नामादीनां षण्णां अयोग्य परिवर्जनं त्रिकरणैः । प्रत्याख्यानं ज्ञेयं अनागतं चागमे काले ॥२१॥ दैवसिक नियमादिषु यथोक्त मानेन उक्त काले। जिनगुण चिंतनयुक्तः कायोत्सर्गः तनु विसर्गः ॥२२॥ द्वित्रिचतुष्क मासेलोचः उत्कृष्ट मध्यम जघन्यः । स प्रति कर्मण दिवसे उपवासे नैव कर्तव्यः ॥२३॥ वस्त्राजिनवल्कैश्च अथवा पत्रादिना असंवरणं। निर्भूषणं निर्ग्रंथं आचेलक्यं जगतिपूज्यम ॥२४॥ स्नानादिव-र्जनेन च विलिप्त जल्लमलस्वेद सर्वांगम् । अस्नानं घोरगुणं संयम द्विकपालकं मुनेः ॥२५॥ प्रासुक भूमि प्रदेशे अल्पासंस्तरिते प्रच्छन्ने । दंडो धनुरिव शय्या-क्षितिशयनं एकपार्श्वेण ॥२६॥ अंगुलिनखावलेखनी कलिभिः पाषाणत्वचादिभिः। दंतमला शोधनं संयम

गुप्तिरदंतनमं ॥२७॥ अंजलिपुटेनस्थित्वा कुड्यादि विवर्जनेन समपादम् परिशुद्धे भूमित्रिके असनं स्थिति भोजनं नाम ॥२८॥ उदयास्तमनयोः कालयोः नालीत्रिकवर्जिते मध्ये एकस्मिनद्वयोः त्रिषुवामुहूर्तकालेएकभक्तं तु ॥२९॥ संस्तारावकाशानांपाणिरेखाभिः दर्शनोद्योते । यत्नेनो भयोः कालयोः प्रतिलेखाभवति कर्तव्या ॥३०॥ मनोवचन काययोगेः उत्पन्नापराधः यस्यगच्छे। मिथ्याकारं कृत्वा निवर्तनंभवति कर्तव्यम ॥३१॥ गंभीरोर्दुधर्षोमितवादी अल्पकुतूहलश्च । चिरप्रव्रजितः गृहीतार्थः आर्याणांगणधरोभवति ॥३२॥ प्रियधर्मा दृढधर्मा संविग्नः अवद्य भीरुः परिशुद्धः । संग्रहानुग्रह कुशलः सततंसारक्षणायुक्तः ॥३३॥ पंचषटसप्त हस्तान् सूरिं अध्यापकं च साधूंश्च। परिहृत्य आर्याः गवासनेनैव वंदंते ॥३४॥ ईर्यागोचरस्वप्नादि सर्वं आचरतुमा वा आचरतु । पूर्वं चरमे तु सर्वसर्वान् नियमान् प्रतिक्रमंते ॥३५॥ प्रतिरुप काय संस्पर्शता प्रतिरुपकालक्रिया च । प्रेष्यकरणं संस्तरकरणं उपकरणं प्रतिलेखनं ॥३६॥ गोचरप्रमाणं दायक भाजन-

नानाविधानं यद्गृहणम्। तथा अशनस्य ग्रहणं विविधस्य च वृत्तिपरिसंख्या ॥३७॥ संयमतपोगुणशीलायमनियमादयश्च यस्मिनक्षेत्रे। वर्धंतेतस्मिनवासः क्षेत्रे उपसंपतज्ञेया ॥ ३८ ॥ फलकंदमूलबीजं अनग्निपक्कं तुआमकं किंचित। ज्ञात्वाअनशनीयं नापिच प्रतिच्छंतिते धीराः ॥३९॥ यत्भवति अबीजं निर्वर्तिमं प्रासुकं कृतंचैव। ज्ञात्वाअशनीयं ततभैक्ष्यं मुनयः प्रतिच्छंति ॥४०॥ काले विनये उपधाने बहुमानेतथैवा निह्नवने। व्यंजनमर्थस्तदुभयं ज्ञानाचारस्तु अष्टविधः ॥ ४१ ॥ क्षेत्रंवास्तु धनधान्यगतं द्विपद चतुष्पद गतंच। पानशयनासनानि चकुप्येभांडेषुदशे भवंति ॥४२॥ अष्टशतं दैवसिकं कल्पेर्धं पाक्षिकं चत्रीणि शतानि उच्छ्वासाः कर्तव्या नियमांते अप्रमत्तेन ॥ ४३ ॥ चातुर्मासिके चत्वारिशताान संवत्सरे च पंचशताानि कायोत्सर्गोच्छ्वासाः पंचसुस्थानेषुज्ञातव्याः ॥४४॥ प्राणिवधे मृषावेदि अदत्तेमैथुने परिग्रहेचैव। अष्टशतं उच्छवासाः कायोत्सर्गे कर्तव्याः ॥४५॥ भक्तेपाने ग्रामांतरे

च अर्हत श्रमण शय्यायाम् । उच्चारे प्रसवणे पंच-विंशतिः भवंति उच्छ्वासाः ॥ ४६ ॥ उद्देशे निर्देशे स्वाध्याये वंदनांयां प्रणिधाने। सप्तविंशंतिरुच्छ्वासाः कार्योत्सर्गे कर्तव्याः ॥४७॥

॥ दर्शन पाठ ॥

दर्शनं देवदेवस्य दर्शनं पापनाशनं दर्शनं स्वर्ग सोपानं दर्शनं मोक्ष साधनं ॥ १ ॥ दर्शनेन जिनेन्द्राणाम साधुनां वंदनेन च नचिरंतिष्ठते पापं छिद्र हस्ते यथोदकम् ॥ २ ॥ वीतराग मुखं दृष्ट्वापद्मरागं समप्रभुं नेक जन्म कृतंपापं दर्शनेन विनश्यति ॥ ३ ॥ दर्शनं जिन सूर्यस्य संसारध्वान्त नाशनं । बोधनं चित्तपद्मस्य समस्तार्थ प्रकाशन ॥ ४ ॥ दर्शनं जिन चन्द्रस्य सद्धर्मामृत वर्षणं जन्मदाह विनाशाय वर्धनं सुख वारिधेः ॥ ५ ॥ जीवादितत्त्वप्रतिपादकाय सम्यक्त्वमुख्याष्ट गुणार्णवाय प्रशांत रूपाय दिगंम्बराय देवाधिदेवाय नमोजिनाय ॥ ६ ॥ चिदानन्दैक रूपाय जिनाय परमात्मने परमात्म प्रकाशाय नित्यं

सिद्धात्मने नमः ॥ ७ ॥ अन्यथा शरणं नास्तित्वमेव शरणं मम तस्मात्कारुण्य भावेन रक्ष रक्ष जिनेश्वर ॥८॥ नहि त्राता नहि त्राता नहि त्रातं जगत्रये वीतरागात्परो देवो न भूतो न भविष्यति ॥९॥ जिनेभक्ति र्जिनेभक्ति र्जिनेभक्ति र्दिनेदिने सदामेऽस्तु सदामेऽस्तु सदामेऽस्तु भवे भवे ॥१०॥ जिनधर्म विनिर्मुक्तो मामवच्चक्रवर्त्यपि स्याच्चेटोऽपिदरिद्रोऽपिजिनधर्मानु वासितः ॥ ११ ॥ जन्म जन्म कृतंपापं जन्मकोटिसमार्जितं जन्म मृत्यु जरारोगंहन्यते जिन दर्शनात् ॥ १२ ॥ अद्योभवेत् सुफलता नयन द्वयस्य देवत्वदीय चरणांबुजवीक्षणेन अद्यत्रिलोक तिलक प्रतिभाषतेमे संसार वारिधिरयं चुलुक प्रमाणं ॥ १३ ॥ इति शुभम्

॥ महावीराष्टक स्तोत्र ॥

यदीये चैतन्ये, मुकुर इव भावाश्चिदचितः । समं भान्ति ध्रौव्यव्ययजनिल सन्तोऽन्तरहिताः ॥ जगत्साक्षी मार्गप्रकटनपरो भानुरिव यो । महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे (नः) ॥१॥ अताम्रं यच्चक्षुः, कमलयुगलं स्पन्दरहितं । जनान्कोपापायं प्रकटयति

वाभ्यन्तरमपि ॥ स्फुटं मूर्त्तिर्यस्य प्रशमितमयी वाति-विमला । महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे (नः) ॥२॥ नमन्नाकेन्द्रालीमुकुटमणिभाजालजटिलं । लसत्पादाम्भोजद्वयमिह यदीयं तनुभृतां ॥ भवज्ज्वाला-शान्त्यै प्रभवति जलं वा स्मृतमपि । महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे (न) ॥३॥ यदर्च्चाभावेन प्रमुदितमना दर्दुर इह । क्षणादासीत्स्वर्गी, गुणगण-समृद्धः सुखनिधिः ॥ लभन्ते सद्भक्ताः शिवसुख-समाजं किमु तदा ? महावीरस्वामी भवतु मे (नः) ॥४॥ कनत्स्वर्णाभासोऽप्यपगततनुज्ञाननिवहो । विचि-त्रात्माप्येको, नृपतिवरसिद्धार्थतनयः ॥ अजन्मापि श्रीमान्, विगतभवरागोद्भुतगतिर् । महावीरस्वामी, नयनपथगामी भवतु मे (नः) ॥५॥ यदीया वाग्गंगा, विविधनयकल्लोलविमला बृहज्ज्ञानाम्भोभिर्जगति जनतां या स्नपयति ॥ इदानीमप्येषा, बुधजनमरालैः परिचिता । महावीरस्वामी, नयनपथगामी भवतु मे (नः) ॥६॥ अनिर्वारोद्रेकस्त्रिभुवनजयी कामसुभटः । कुमारावस्थाया मपि निजबलाद्येन विजितः ॥ स्फुरन्नि-

त्यानन्दप्रशमपदराज्याय स जिनः । महावीरस्वामी, नयनपथगामी भवतु मे (नः) ॥७॥ महामोहातङ्क प्रशमनपराकस्मिकभिषग् । निरपेक्षो बन्धु र्विदितमहि-मामङ्गलकरः ॥ शरण्यः साधूनाम्, भवभयभृता-मुत्तमगुणो । महावीरस्वामी, नयनपथगामी भवतु मे (नः) ॥८॥ महावीराष्टकं स्तोत्रं, भक्त्या भागेन्दुना कृतम् । यः पठेच्छ्रृणुयाच्चापि, स याति परमां गतिं ॥

॥ इति शुभम् ॥

॥ श्री शांतिनार्थ स्तोत्र ॥

नाना विचित्रं बहुदुःखराशि, नानाप्रकारं मोहानपासी पापानि दोषानि हरंति देव, इह जन्म शरण तुव शांतिनाथं ॥१॥ संसार मध्ये मिथ्यात चिंता मिथ्यात्व-मध्येकर्म्मान बंधे, ते बंध छेदंति देवाधि देवं, इह जन्म शरणं तुव शांतिनाथं ॥२॥ कामस्य क्रोधस्य मायाति लोभं, चतुः कषाया इह जीव बंधे, ते बंध छेदंति देवाधि देवं, इह जन्म शरण तुव शांतिनाथं ॥३॥ जातस्य मरणं ध्रुव तस्य वचमं, बहुशांति जीवं इह

जन्म दुःखं, ते बंध छेदंति देवाधि देवं, इह जन्म शरणं तुव शांतिनाथं ॥४॥ चारित्र हीने नर जन्म बधे, सम्यक्त रत्नं परिपालयंति, ते जीव सिद्धंति देवाधि देवं, इह जन्म शरणं तुव शांतिनाथं ॥५॥ मृदु वाक्य हीने कठिनस्य चिंता, पर जीव निंदा मनसा च बंधे, ते बंध छेदंति देवाधि देवं, इह जन्म शरणं तुव शांतिनाथं ॥६॥ परद्रव्य चोरी परनारि सेवा हिंस्यादिकछुं अनुवृत्य बधे, ते बंध छेदंति देवाधि देव, इह जन्म शरणं तुव शांतिनाथं ॥७॥ पुत्राणि मित्राणि कलित्राणि बंधे, बहु जीव मध्ये इह जीव बंधे, तेबंध छेदंति देवाधिदेवं, इह जन्म शरणं तुव शांतिनाथं ॥८॥ जप तप दानेन भवंति पाठंत नित्य पूज्य गुन भद्र स्वामी, ते बंध छेदंति, देवाधि देवं, इह जन्म शरणं तुव शांतिनाथं ॥९॥ इति शांतिनाथ स्तोत्र संपूर्ण ॥

卐 पार्श्वनाथ स्तोत्र 卐

नरेन्द्रं फणीन्द्रं सुरेन्द्रं अधीशं। शतेन्द्रं सुपुजैं भजैं नाय शीसं ॥ मुनीन्द्रं गणेन्द्रं नमो जोडि हाथं। नमो देवदेवं सदा पार्श्वनाथं ॥१॥ गजेन्द्रं मृगेन्द्रं

गह्यो तू छुड़ावे। महा आग तैं नाग तैं तू बचावे॥ महावीर तैं युद्ध में तू जितावै। महा रोग तैं बंध तैं तू छुड़ावै ॥२॥ दुखी दुःखहर्ता सुखी सुक्खकर्ता। सदा सबकों को महानन्द भर्ता। हरे यक्ष राक्षस्स भूतं पिशाचं। विषं डाकिनी विघ्न के भय अवाचं ॥३॥ दरिद्रीन को द्रव्य के दान दीन्हे। अपुत्रीन को तू भले पुत्र कीन्हे॥ महा संकटों से निकारै विधाता। सबै संपदा सर्व को देहि दाता ॥४॥ महा चोर को वज्र को भय निवारै। महा पौन के पुंज तैं तू उबारै॥ महा क्रोध की अग्नि को मेघ धारा। महा लोभ शैलेश को वज्र धारा ॥५॥ महा मोह अंधेर को ज्ञानभानं। महा कर्म कांतार को दौ प्रधानं किये नाग नागिन अधोलोक स्वामी। हरयो मान तू दैत्य को हो अकामी ॥६॥ तुहीं कल्पवृक्षं तुहीं काम-धेनुं। तुहीं दिव्य चिन्तामणि नाग एनं॥ पशू नर्क के दुःखनैं तू छुड़ावै महास्वर्ग तैं मुक्ति में तू बसावै ॥७॥ करै लोह को हेम पाषाण नामी। रटै नाम सो क्यों न हो मोक्षगामी॥ करै सेव ताकी करै देव

सेवा। सुनै वैन सो ही लहे ज्ञान मेवा ॥८॥ जपै जाप ताको नही पाप लागे। धरे ध्यान ताको सबै दोष भागै ॥ बिना तोहि जाने धरे भव घनेरे। तुम्हारी कृपा तैं सरैं काज मेरे ॥९॥ दोहा॥ गणधर इन्द्र न कर सके, तुम विनती भगवान। द्यानत प्रीति निहार कै, कीजे आप समान ॥१०॥ इति शुभम्॥

॥ सोलह कारण भावना ॥

॥ चौपई ॥ आठ दोष मद आठ मलीन, छह अनाय तन शठतातीन। ये पचीस मल वर्जित होय दर्शन विशुद्धि भावना सोय ॥ १ ॥ रत्नत्रय धारा मुनिराय, दर्शन ज्ञान चरित्र समुदाय। इनकी विनय विषैं हर धीन द्वितीय भावना सो अमलीन ॥ २ ॥ शीलधारी धारे समचेत, सहस्र अठारह अंग समेत। अतीचार नहिं लागे जहां तृतीय भावना कहिये तहां ॥ ३ ॥ आगम कथित अरथ अवधार यथा शक्ति बुद्धि अनुसार। करे निरन्तर ज्ञान अभ्यास तुरियभावना कहियेतास ॥ ४ ॥ दोहा ॥ धर्मधर्म के फल विषे वरते प्रीति विशेष। यही भावना पंचमी लिखी जिनागम

देख ॥५॥ चौपाई ॥ औषधि अभयज्ञान आहार महा-दान ये चार प्रकार शक्ति समान सदा निर्वहे छठी भावना धारक कहे ॥६॥ अनशन आदि मुक्ति दातार उत्तम तप बारह परकार बल अनुसार करे जो कोय सो सातमी भावना होय ॥७॥ जर्तावर्गको कारण पायविघ्न-होतजो करे सहाय। साधुसमाधि कहावे सोय यही भावना अष्टमी होय ॥ दशविधि साधु जिनागम कहे पथ पीडित रोगादिक गहे । तिनकी जो सेवा सतकार यही भावना नौमीसार ॥९॥ परम पूज्य आतम अरहंत अतुलअनंत चतुष्टयवंत । तिनकी थुति नित पूजाभाव दशम भावना भव जल नाव ॥१०॥ जिनवर कथित अर्थ अवधार रचना करै अनेक प्रकार । आचारज की भक्ति विधान एकादशमी भावेना जान ॥११॥ विद्यादायक विद्या लीन गुणगरिष्ठ पाठक परवीन । तिनके चरण सदा चित्त रहे । बहु श्रुत भक्ति बारमीय है ॥१२॥ भगवतभाषित अरथ अनूप गणधर ग्रंथितग्रंथ स्वरूप। तहां भक्ति बरते अमलान प्रवचन भक्ति तेरमी जान ॥१३॥ षट आवश्यक किया विधान तिनकी कबहूँ

करे न हान । सावधान वरतेथित चित्त सो चौदवी परम पवित्र ॥१४॥ कर जपतप पूजा व्रतभाव प्रगट करै जिनधर्म प्रभाव । सोई मारग पर भावना यही पंच दसमी भावना ॥१५॥ चार प्रकार संघसों प्रीतिराखे गायवत्स की रीति यह सोलहमी सब सुख दान प्रवचन वात्सल्य अभिधान ॥ दोहा ॥ सोलहकारन भावना परमपुण्य को खेत भिन्न-भिन्न अरू सोलहों तीर्थंकर पददेत ॥ बंध प्रकृति जिनमत विषे कही एक सौ बीस । सौ सतरहमिथ्यात में बांधत हैं निःशदीस ॥ तीर्थकर आहारद्विक तीन प्रकृति ये जान । इनको बंधमिथ्यात में कह्यो नहिं भगवान । तातें तीर्थंकर प्रकृति तीनों समकित माहिं सौलहकारण सौबंधै शिवको निश्चय जाहि ॥१६॥ इति शुभम् ॥

❀ निर्वाणकाण्ड ❀

दोहाः—वीतराग बंदौ सदा भावसहित सिरनाय । कहूं कांड निर्वाण की भाषा सुगम बनाय ॥ १ ॥ चौपाई—अष्टापद आदीश्वर स्वामी वासुपूज्य चंपापुरि नामी । नेमिनाथ स्वामी गिरनार वंदौं भाव

भगति उरधार ॥२॥ चरम तीर्थंकर चरम शरीर पावा पुर स्वामी महावीर। शिखरसमेद जिनेश्वर बीस भाव सहित बंदौ निशदीस ॥३॥ वरदत्तरायरु इंद मुनिंद सायरदत्त आदि गुणवृंद। नगर तारवर मुनि उठ कोडि वंदौं भावसहित कर जोडि ॥४॥ श्री गिरनार शिखर विख्यात कोडि बहत्तर अरु सौ सात। संभु प्रदुम्न कुमर द्वै भाय अनिरुध आदि नमूं तसु पाय ॥५॥ रामचन्द्र के सुत द्वै वीर लाड नरिंद आदि गुणधीर। पांच कोड़ि मुनि मुक्ति मंझार पावागिरि वंदौं निरधार ॥६॥ पांडव तीन द्रविड़ राजान आठ कोड़ि मुनि मुक्ति पयान। श्री शत्रुञ्जयगिरि के सीस भावसहित वंदौं निशदीस ॥७॥ जे बलभद्र मुकति में गये आठ कोड़ि मुनि औरहि भये। श्री गजपंथ शिखर सुविशाल तिनके चरण नमूं तिहुंकाल ॥८॥ राम हनू सुग्रीव सुडील गवय गवाख्य नील महानील। कोड़ि निन्यानव मुक्ति पयान तुंगीगिरि वंदौं धरि ध्यान ॥९॥ नङ्ग अनङ्ग कुमार सुजान पञ्चकोड़ि अरु अर्द्ध प्रमान। मुक्ति गये सिद्धनागिरि शीस ते वंदौं त्रिभुवनपति

ईश ॥१०॥ रावण के सुत आदि कुमार मुक्त गये रेवातट सार । कोडि पञ्च अरु लाख पचास ते वंदौं धरि परम हुलास ॥११॥ रेवानदी सिद्धवर कूट पश्चिम दिशा देह जहं छूट । द्वै चक्री दश काम कुमार ऊठ कोडि वंदौ भवपार ॥१२॥ बडवानी बडनयर सुचङ्ग दक्षिण दिशि गिरि चूल उतंङ्ग । इन्द्रजीत अरु कुम्भ जुकर्ण ते वंदौं भवसायर तर्ण ॥१३॥ सुवरण-भद्र आदि मुनिचार पावा गिरिवर शिखर मझार । चेलना नदी तीर के पास मुक्ति गये वंदौं नित तास ॥१४॥ फलहोडी बडगाम अनूप पश्चिम दिशा द्रोण-गिरी रूप । गुरुदत्तादि मुनीसुर जहां मुक्ति गये वंदौं नित तहां ॥१५॥ बाल महाबाल मुनि दोय नाग-कुमार मिले त्रय होय । श्री अष्टापद मुक्ति मझार, ते वंदौं नित सुरत संभार ॥१६॥ अचलापुर की दिशि ईशान तहां मेढ़गिरि नाम प्रधान । साढ़े तीन कोटि मुनिराय तिनके चरण नमूं चितलाय ॥१७॥ वंश-स्थल वन के ढिंग होय पश्चिम दिशा कुंथगिरि सोय कुलभूषण देशभूषण नाम तिनके चरणन करहुं

प्रणाम ॥ १८॥ जसरथ राजा के सुत कहे, देश कलिंग पांचसौ लहे। कोटि शिला मुनि कोटि प्रमान, बंदन करूं जोर जुगपान ॥१९॥ समवशरन श्री पार्श्वजिनंद, रेसंदी गिरि नयनानन्द। वरदत्तादि पंच ऋषिराज, ते वंदौ नित धरम जहाज ॥ २० ॥ तीन लोक के तीरथ जहां, नितप्रति वंदन कीजै तहां। मनवचकाय सहित सिर नाय, वंदन करहिं भविक गुणगाय ॥२१॥ संवत सतरह सौ इकताल, आश्विन सुदि दशमी सुविशाल। भैया वंदन करहिं त्रिकाल, जय निर्वाणकांड गुणमाल ॥२२॥

॥ करुणाष्टकम ॥

त्रिभुवन गुरू जिनेश्वर परमानन्दैक कारण कुरुष्व मयि किंकरेत्रकरुणां यथा तथा जायते मुक्तिः ॥ १॥ निर्विण्णोहं नितरांमर्हन बहु दुःख या भवस्थित्या। अपुनर्भवाय भव हर कुरु करुणा मत्र मयिदीने ॥ २॥ उध्दरमांयति त मतोविषमाद्भव कूपतः कृपां कृत्वा।

अर्हन्नलमुद्धरणे त्वम सीतिपुनः पुनर्वच्मि ॥ ३ ॥ त्वं-कारुणिकः स्वामित्व मेवशरणं जिनेशते नाहम। मोह-रिपुदालित मानः पूत्कारं तवपुरः कुरुते ॥ ४ ॥ ग्राम-पतेरपि करुणा परेण केनाप्यु पद्रुतेपुंसि । जगतां प्रभो नकिं तव जिनमयि खल कर्मभिः प्रहते ॥ ५ ॥ अपहर ममजन्मदयां कृत्वेत्येक त्रवचसिवक्तव्यो । तेनातिदग्ध इतिमेदेववभूप्रलापित्वम् ॥ ६ ॥ तव जिनचरणाब्जयुगं करुणामृतसंग शीतलं यावत । संसारा तपतप्तः करो-मिहदितावदेवसुखी ॥ ७ ॥ जगदेकशरण भगवन्नसम श्रीज्ञानसागरः गुणेघः । किंबहुनाकुरुकरुणामत्र जने शरणमापन्ने ॥ ८ ॥

॥ अपराध क्षमा ॥

रत्नत्रयेतपासिपंक्ति विधेच धर्मे मुलोत्तरेपुच गुणेष्वथ गुप्तिकार्ये ! दर्पात्प्रमादत उतागसि मे प्रवृत्ते मिथ्या स्तुनाथ जिनदेव तव प्रसादात् ॥ १ ॥ मनोवचोऽङ्गै कृत माङ्गि पीड़नं प्रमोदितं कारित मन्नयन्मया । प्रमादतो-

दर्पत एतदाश्रयं तदस्तु मिथ्या जिनदुष्कृतं मम ॥२॥ चिंतादुष्परिणाम संतति वशादुन्मार्गग[1] यागिरः कायात्संवृति वर्जितादनुचितं कर्मार्जितं यन्मया । तन्नाशंव्रजतु प्रभो जिनपतेत्वत्पाद पद्मस्मृते रेषा मोक्षफल प्रदाकिलकथं नास्मिन् समर्था भवेत ॥ ३ ॥ पापंकारितवान्यदेवकृतवानयैः कृतं साध्वितिभ्रान्त्याहं प्रतिपन्नवांश्च मनसा वाचा च कायेन च । काले सम्प्रतियच्च भाविनि नवस्थानोद्गतं यत्पुन स्तन्मिथ्या खिलमस्तुमे जिनपते स्वनिन्दतस्तेपुरः ॥ ४ ॥ लोकालोक मनन्त पर्ययुतं कालत्रयीगोचरंत्वं जानासि जिनेन्द्र पश्यसि तरांशश्वत्समंसर्वतः । स्वामिन् वेत्सिममैक जन्म जनितं दोषंन किञ्चित्कुतो हेतोस्ते पुरतः सवाच्य इतिमेशुध्द्यर्थ मालोचितम् ॥५॥ आश्रित्य व्यवहार मार्गमथवा मूलोत्तराख्यान् गुणान् साधो र्धारयतोममस्मृतिपथ प्रस्थापियदूषणम । शुध्दयर्थं तदपि प्रभो तवपुरः सज्जोऽहमालोचितुंनिः शल्य हृदयं विधेयमजडैर्भव्यैर्यतः सर्वथा ॥६॥ सर्वोप्यत्रमुहुर्मुहु र्जिनपते लोकैरसङ्ख्यैर्मित व्यक्ता-

व्यक्त विकल्प जाल कलितः प्राणीभवेत्संसृतौ। तत्तावद्भिरयं सदैव निचितैदोषैर्विकल्पानु गैः प्रायश्चित्त मियत्कृतः श्रुतगतंशुद्धिर्भवत्सन्निधे ॥ ७ ॥ संसारो बहुदुःखतः सुखपदं निर्वाण मेतत्कृतेत्यक्त्वार्थादित-पोवनं वय मितास्तत्रोज्झितः संशयः। एतस्मादपि दुष्करव्रत विधेर्नाद्यापिसिद्धिर्यतोवाताली तरली कृतंदल मिव भ्राम्यत्यदो मानसम ॥ ८ ॥ एतेनैवचिदुन्नतिक्षय कृता कार्यं विनावैरिणाशश्वत्कर्मखलेनतिष्ठति कृतं-नाथा वयोरन्तरम एषोहंऽसचते पुरः परिगतोदुष्टोऽत्र निस्सार्यतां सन्दक्षेतर निग्रहो नयवतो धर्मः प्रभोरी-दृशः ॥ ९ ॥ चारित्रं यद भाणि केवल दृशोदेवत्वया-मुक्तये पुंसोतत्खलुमादृशेन विषमेकालेकलौ दुर्धरम्। भक्तिर्यासमभूदिह त्वयिदृढापुण्यैः पुरोपार्जितः संसा-रार्णवतारणे जिनततः सैवास्तुपीतोमम ॥ १० ॥ हीनं संहननं परिषहसहंनाभूदिदं साम्प्रतं कालेदुःखम संज्ञकेऽत्र यदपि प्रायोनतीव्रंतपः। कश्चिन्नातिशयस्त-थापि यदसावार्तांहिदुष्कर्मणामंतः शुद्ध चिदात्म गुप्त

मनसः सर्वं परंतेनकिम् ॥११॥ स्निग्धामामुनयो भवंतु गृहिणोयच्छन्तु मा भोजनं माकिञ्चिदनमस्तु मावपुरिदं रुग्वार्जितं जायताम् । नग्नं मामवलोक्यनिन्दतु जनस्त त्रापिखेदोनमे नित्यानंद पदप्रदं गुरूवचो जागर्तिचे-च्चेतसि ॥ १२ ॥ सर्व्वागमानवगतः खलुतत्व बोधो-मोक्षायवृत्त मपि संप्रतिदुर्घटं न जाडया तथा कुतनु-रुवपि भक्तिरेव देवास्ति सैवभवतु क्रमतस्तदर्थं ॥१३॥ अस्तुत्रयं ममसुदर्शन बोधवृत्तं संबंध यांतुच समस्त दुरीहितानि या चेनकिंचिदपरं भगवान भवंतना प्राप्त-मस्त किमपीह्यतस्त्रिलोक्यं ॥ १४ ॥ इति शुभम् ॥

॥ ब्रह्मचर्याष्टक ॥

भवविवर्धन मेवयतो भवेदधिक दुःख करं चिरमंगि नाम् । इतिनिजांग न वापिनतन्मतं मतिमतां सुरतं कि-मतोन्यथा ॥ १ ॥ पशवएवरते रतमानसाइति बुधैः पशुकर्मतदुच्यते । अभिधयाननुसार्थिकयानया पशु-गतिः पुरतोस्यफलं भवेत् ॥२॥ यदिभवेदबलासुरतिः शुभाकिल निजासुसतामिहसर्वथा । किमिति पर्वसुसा-

परिवर्जिता किमितिवातपसे सततं बुधैः ॥३॥ रतिपते-रुदयान्नर योषितो रशुचिनोर्वपुषोः परिघट्टनात् । अशुचिसुष्ठुतरंतदितो भवेत्सुखलवेविदुषः कथमादरः ॥४॥ अशुचिनि प्रसभं रतकर्मणि प्रति शरीररतिर्यदपि-स्थिता । चिदरिमोह विजृंभणदूषणा दियमहोभवती ति निषेधिता ॥ ५ ॥ निरवशेषयमद्रुम खंडनेशित कुठारहतिर्ननुमैथुनम् । सततमात्महितं शुभमिच्छता परिहति विधि नास्य विधीयते ॥ ६ ॥ मधुयथापिवतो विकृतिस्तथा जिनकर्मभृतः सुरते मतिः । नपुनरेतद-भीष्ट मिहाि नां न च परत्रयदायतिदुःखदम ॥७॥ युवति संगति र्जनमष्टकं प्रति मुमुक्षुजनं भाणितं मया । सुरत ाग समुद्र गताजनाः कुरुतमा क्रुध-मत्र मुनौ मयि ॥ ८ ॥ इति शुभम् ॥